भारतीय एकता

के

अभिलाषियों

को

समर्पित ।

"इस्लाम की तलवार विश्वमाली की कतरनी थी जिससे उसने आर्यावर्त में स्वय लगाये हुए ज्ञान वृक्ष की सड़ी हुई शाखाओ और निष्फल अङ्गों को छाँट दिया।"

ई० वी० हैवेल

प्राक्कथन

मध्यकालीन भारत का यह संक्षिप्त इतिहास भारतीय विद्यालयों की बी० ए० की कक्षाओं की आवश्यकता की पूर्ति के लिये लिखा गया है। पिछले कुछ वर्षों से विश्वविद्यालयों में इस विषय की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है, यह पुस्तक उसकी भूमिका मात्र है। विषय जितना विस्तृत है उतना ही आकर्षक भी। पग-पग पर इसके विभिन्न पहलुओं की सविस्तार समीक्षा करने का प्रलोभन होता है, किन्तु कथानक को स्पष्ट और सरल बनाये रखने के उद्देश्य से लेखक ने उसका संवरण किया है, चाहे विद्वद्जन गम्भीरता के अभाव का आरोप ही क्यों न लगाएँ। इसीलिये पादटिप्पणियाँ भी बहुत कम दी गई हैं। किन्तु जानकारी के साधनों को दिखाने के लिये मैंने पाठ के भीतर पर्याप्त हवाला दे दिया है। पुस्तक का दूसरा भाग मेरे ग्रन्थ 'मुगल एम्पायर इन इन्डिया' का संक्षिप्त रूप है, और पहला भाग प्रथम बार लिखा गया है। प्रस्तुत पुस्तक में भारत में इस्लाम का इतिहास प्रारम्भ से लेकर मुगल साम्राज्य के अन्त तक (१८ वीं शताब्दी में) वर्णित है। हिन्दू भारत की भी जो इस इतिहास की पृष्ठ भूमिका था, उपेक्षा नहीं की गई है। मुख्य कथावस्तु इस्लाम का राजनैतिक इतिहास है, फिर भी मैंने उसके सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं का यथोचित ध्यान रक्खा है। पाठकों को कदाचित यत्र-तत्र ऐसी व्याख्याएँ मिलेंगी, जिनसे वे विद्वद्जन जिनका अध्ययन मुझसे अधिक गम्भीर है, सहमत न हो सकें। किन्तु मैंने इसको इस विश्वास से लिखा है कि 'इतिहास प्रत्येक युग में नये ढँग से लिखा जाना चाहिये, इसलिये नहीं कि नये तथ्यों का अनुसन्धान हो जाता है, बल्कि इसलिये कि अतीत के नये पहलू दृष्टिगोचर होने लगते हैं, और इसलिये कि नये युग की प्रगति में भाग लेने वाले अपने को ऐसे स्थानों पर पाते हैं जहाँ से अतीत को नये दृष्टिकोण से देखा तथा आँका जा सकता है।'

इसमें मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय करना पाठकों का काम है, मेरा नहीं। यदि इस पुस्तक का अवलोकन पाठकों की ज्ञान-पिपासा तीव्र करने में समर्थ हुआ तो मुझे सन्तोष हो जायगा।

पुस्तक के अन्त में विशेष अध्ययन के लिये जिन ग्रन्थों की सूची संलग्न है, उनके लेखकों का मैं बहुत आभारी हूँ और यहाँ पर मैं उनके ऋण को स्वीकार करता हूँ। साथ ही साथ मैं अपने सहयोगी, प्रो० वी० एन० धावले, एम० ए० और प्रो० बी० एन० जोशी, एम० ए० को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अनुक्रमणिका तैयार करने में मुझे बहुमूल्य सहायता दी है।

विश्राम बाग,

सितम्बर, १९३७।

एस० आर० शर्मा

विषय-सूची

चित्र-सूची

मानचित्र-सूची

१

भूमिका :

हिन्दू भारत का पराभव

इतिहास को प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक युगों में विभक्त किया जाता है; ह उसका सरल तथा सुपरिचित काल-विभाजन है। यदि हम किसी जाति के ीवन की एकता तथा अविच्छिन्नता को न भूलें तो पूर्वोक्त विभाजन उचित ही और उसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। बहुधा भारतवर्ष को हुजातीय देश माना जाता है और उसके निवासियों का 'भारत की जातियाँ' ह कर उल्लेख किया जाता है, किन्तु यह एक ठोस सत्य है कि इस देश के ंवासियों के जीवन में एक मौलिक एकता है और वे इस महाद्वीप की अन्य ातियों तथा शेष संसार से भिन्न हैं। यद्यपि भारतवासी विभिन्न नस्लों के म्मिश्रण से बने हैं, फिर भी तथाकथित प्राचीन युग के अन्त तक उन्होंने अपने रित्र की एकता तथा व्यक्तित्व को अक्षुण्ण रक्खा। उसके उपरान्त अर्थात् मध्य ुग में हम अपने चरित्र की इस विशेषता को खो बैठे, इसका परिणाम अच्छा प्रथवा बुरा कुछ भी हुआ हो, किन्तु उन परिस्थितियों में ऐसा होना अनिवार्य ी था। उस समय से हमारे जीवन के रूपान्तर की एक नई प्रक्रिया आरम्भ हुई जो अब तक पूर्ण नहीं हुई है। इस प्रक्रिया के प्रारम्भ होने की निश्चित तिथि निर्धारित करना उतना सरल नहीं है, जितना कि उन तत्वों को समझ सकना जो इस रूपान्तर के लिये उत्तरदायी थे। फिर भी यदि हम ऐसी तिथि को ढूँढना ही चाहें तो हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) को युगपरिवर्तनकारिणी घटना कहा जा सकता है, वहीं से इतिहास का नया काल आरम्भ हुआ। उस तिथि तक अथवा उस (७ वीं) शताब्दी के अन्त तक भारतवर्ष पूर्ण रूप से हिन्दू बना रहा—यदि हिन्दू शब्द का हम व्यापक अर्थ में प्रयोग करें। उस समय तक जो भी परिवर्तन हुए, वे हिन्दू भारत के अन्तर्गत ही हुए, देश—आर्य, द्रविड़, शक, मगोल आदि विभिन्न नस्लों और ब्राह्मण, वेदान्त, जैन, बौद्ध आदि धर्मों को अपने विशाल वक्षस्थल में एक साथ लपेटे हुए मूलतः हिन्दू ही बना रहा। युवान-च्वांग के समय

के भारत की यही विशेषता थी अर्थात् वह एकता के सूत्र में गुँथे हुए विभि तत्वों के सगठन से बना हुआ था, किन्तु आज के भारत से वह नितान्त भिन्न था। इस रूपान्तर की प्रकृति तथा कारणों का अध्ययन करना ही इस ग्रन्थ क मुख्य उद्देश्य है।

इस रूपान्तर का मुख्य कारण इस्लाम था। हिन्दुत्व को इस्लाम एक ऐस साथी मिला जिसका चरित्र उससे कहीं अधिक शक्तिशाली था। मुसलमानों वे आगमन से पहले हिन्दू-समाज की अपने से भिन्न सस्कृतियों के लोगों क आत्मसात करने की शक्ति अपरिमित प्रतीत होती थी। किन्तु इस्लाम के सम्पर्क में आने से उसकी आन्तरिक दुर्बलताएँ प्रथम बार प्रकट हुई। वास्तव में लगभग एक हजार वर्ष तक तो ऐसा लगा कि हिन्दू-समाज अभिभूत हो जायगा। अरबों की सिन्ध विजय (७१२ ई०) से लेकर मुगल-साम्राज्य के पतन अर्थात् औरंगजेब की मृत्यु तक (१७०७ ई०) इस्लाम का उत्कर्ष रहा। जब तक आलमगीर की अन्तिम रूप से पराजय नहीं हो गई तब तक निश्चयपूर्वक यह कोई नहीं कह सकता था कि भारत दार-उल-इस्लाम होकर नहीं रहेगा। किन्तु मध्य युग के अवसान के साथ-साथ यह भी निश्चित हो गया कि यह प्राचीन देश हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही जातियों तथा धर्मों के लोगों का समान रूप से है। वे दोनों एक दूसरे के साथ किन शर्तों के आधार पर रहेंगे यह अभी तक नहीं तय हो पाया है

हिन्दू तथा इस्लाम, दोनों संस्कृतियों के घात प्रतिघात ने आधुनिक भारत तथा उसकी समस्याओं को जन्म दिया है। योरोप की आक्रमणकारी जातियां शुद्ध इस्लामी देशों पर कभी पूर्ण विजय नहीं प्राप्त कर सकीं। इसी प्रकार जब तक भारत केवल हिन्दू बना रहा, पूर्ण रूप से उसे कोई अभिभूत न कर सका। इसलिये यह कहना निराधार न होगा कि एकता का नाश ही भारत की दासता का मुख्य कारण था। हमारे नये परिवर्तित राष्ट्रीय जीवन का प्रधान अंग वह जातीय तथा धार्मिक तत्व है जो इस्लाम के साथ देश में आया और जो यहाँ के जीवन में घुल-मिल नहीं सका है। यही कारण है कि इन दोनों संस्कृतियों के घात-प्रतिघात का इतिहास केवल शास्त्रीय महत्त्व का विषय नहीं है। यह कथन सामान्यतया सत्य ही है कि आज का भारत एक ऐसी समस्या है जिसे उसके इतिहास के अध्ययन के बिना नहीं समझा जा सकता, जिस युग का अध्ययन इस ग्रन्थ में हम करने जा रहे हैं, उसके सम्बन्ध में तो यह कथन और भी अधिक सत्य है। भारतीय जीवन का निर्माण कैसे हुआ है, इस चीज के निष्पक्ष, आलोचनात्मक किन्तु प्रेमपूर्ण अध्ययन द्वारा ही हम यह समझने के योग्य हो सकते हैं कि आज का भारत वास्तव में क्या है? उसके विकास की प्रक्रिया के पीछे क्या उद्देश्य अन्तर्निहित है और उसकी सुसुप्त शक्तियाँ क्या हैं?

भारत के बाहर अन्य सभी देशों में जहाँ मुसलमान अपना प्रभुत्व पूर्ण रूप से स्थापित करने में सफल हुए, वहाँ उन्होंने समाज और संस्कृति में इतना गम्भीर

परिवर्तन कर दिया कि उसका रूप ही दूसरा हो गया। मुसलमान उन देशों में गये, उन्हें उन्होंने देखा और विजय कर लिया। हिन्दू-भारत भी दुर्बल, विभक्त तथा पतनशील था, तथापि शताब्दियों के निरन्तर संघर्ष के बाद भी इस्लाम उसे अन्य देशों की भाँति अभिभूत न कर सका। इसीलिये हम कह सकते हैं कि मुस्लिम आक्रमणों के समय भारत दुर्बल भी था और अजेय भी, यद्यपि इस कथन में विरोधाभास प्रतीत होता है। राजनैतिक दृष्टि से वह दुर्बल तथा भेद्य था किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतया अजेय।

अ—राजनैतिक इतिहास

तुर्की तथा ब्रिटिश साम्राज्यों के निर्माण से पहिले हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तक समस्त भारत केवल एकबार एक सम्राट के अधीन रहा था। वह सम्राट था अशोक महान् (२७३–२३२ ई० पू०)। प्राचीन भारत के अन्य साम्राज्य इतने विस्तृत न हो सके कि वे देश की भौगोलिक सीमाओं को पूर्ण रूप से आलिंगन कर सकते, यद्यपि अपने समसामयिक राज्यों में वे प्रमुख माने जाते थे। फिर भी गुप्त, हर्ष आदि साम्राज्यों के समय में भी देश बाह्य आक्रमणों के विरुद्ध कभी अरक्षित नहीं रहा। देश के भीतर राज्यों और साम्राज्यों का वैसे ही उत्थान और पतन हुआ जैसे समुद्र में लहरों का; किन्तु विदेशी आक्रमणकारी स्थायी रूप से देश की राजनैतिक पूर्णता को कभी छिन्न-भिन्न न कर सके। उनमें से जिन्होंने कुछ समय के लिये उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित भी कर लिया वे भी शीघ्र ही यहाँ के जीवन में घुल-मिल गये। देश की इस राजनैतिक जीवन-शक्ति के लिये बाह्य परिस्थितियाँ तथा आन्तरिक बल दोनों ही उत्तरदायी थे। यूनानी, शक तथा हूण समुद्र की लहरों के सदृश थे जो भारत के तट से टकरा कर टूट गई, वे ज्वारों के समान नहीं थे जिनमें आन्तरिक गति होती, जो देश के मर्मस्थलों तक पहुँच सकते और उसके सम्पूर्ण जीवन को आप्लावित कर देते। इस प्रकार का ज्वार तो प्राचीन भारत में केवल एक ही बार आया और वह था आर्यों का आगमन। उस समय अवश्य सम्पूर्ण देश की विजय तथा उसका रूपान्तर हो गया था। ऐसी ही एक अन्य मानवीय बाढ़ हर्ष की मृत्यु के समय (६४७ ई०) उठी और इस्लाम के रूप में आई। अगले अध्याय में हम इस बाढ़ की विशालता का निरीक्षण करेंगे। यहाँ हम केवल उस क्षेत्र की पड़ताल करेंगे जो मानो आप्लावित होने के लिये तृषित की भाँति प्रतीक्षा कर रहा था।

देश चार मुख्य राजनैतिक क्षेत्रों में विभक्त था। (१) हिमालय प्रदेश, (२) सिन्ध-गंगा का मैदान (हिन्दुस्तान), (३) दक्खिन तथा (४) दक्षिणी प्रायद्वीप। इनमें से प्रत्येक प्रदेश में राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। कभी-कभी वे एक दूसरे के प्रभाव-क्षेत्र पर भी आक्रमण करते थे, किन्तु उनमें से कभी

कोई स्थायी रूप से इतने विस्तृत क्षेत्र पर प्रभुत्व न स्थापित कर सका कि सम
देश की राजनीति को प्रभावित कर सकता। वास्तविक परिस्थिति का साक्षात
करने के लिये यह आवश्यक है कि हम इस युग के निरन्तर परिवर्तनशील र
नैतिक जीवन का ध्यान से अध्ययन करें।

१—हिमालय प्रदेश के राज्य

इस क्षेत्र के राज्य-समूह में काश्मीर, नेपाल तथा आसाम अधि
महत्वपूर्ण थे।

(क) काश्मीर—एक हिन्दू-राज्य के रूप में काश्मीर का इतिह
कम से कम अशोक के समय तक पहुँचता है। उसका पौराणिक तथा ऐतिहासि
वृत्तान्त हम कल्हण (कल्याण) रचित राजतरङ्गिणी में पढ़ सकते हैं जो
काव्यात्मक इतिहास ग्रन्थ है और जिसकी रचना १२ वीं शताब्दी में हुई थ
१३३९ ई० में मुसलमानों ने काश्मीर को विजय किया, उससे पहले एक के ब
एक अनेक हिन्दू राज वंशों ने उस पर शासन किया। उनका केवल स्थानी
महत्व था, इसलिये काश्मीर के राजनैतिक जीवन की विशेषताओं को समझ
के लिये यहाँ हम उनमें से केवल एक-दो का उल्लेख करेंगे। काश्मीर का अधिक
इतिहास स्त्रियों के प्रभुत्व, दरबारी कुचक्रों तथा क्रान्तियों के वृत्तान्त से भ
पड़ा है। उसके एक महान् शासक मुक्तापीड़ (ललितादित्य) ने जो करकोट व
का था ७४० ई० में कन्नौज के राजा यशोवर्धन को पराजित किया। उसने मार्तं
के प्रसिद्ध सूर्यमन्दिर का भी निर्माण कराया जिसके भग्नावशेष आज
विद्यमान हैं। नवीं शताब्दी के मध्य में उत्पल-वंश ने करकोट-वंश को अपद
करके अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस वंश के राजा अवन्तिवर्मन (८५
८३ ई०) में अपनी महान् रचनात्मक सफलताओं के लिये विशेष ख्याति प्रा
की। अपने योग्य मन्त्री सूर तथा महान् इन्जीनियर सुय्य की सहायता
उसने नये नगरों का निर्माण कराया, सिंचाई के साधन जुटाये, दलदलों
सुखाया और घाटी को आँधियों के निरन्तर संकट से मुक्त किया। आधुनि
सोपुर (सूय्यपुर) नवीं शताब्दी के महान् काश्मीरी निर्माता की स्मृ
जीवित रक्खे हुए है। अवन्तिवर्मन के बाद एक गृह युद्ध में विजयी होक
शंकरवर्मन (८८३–९०२ ई०) सिंहासन पर बैठा। वह लोभी था, उसने जनत
से धन खसोटा, कष्टप्रद कर लगाये, मन्दिरों को लूटा और इस प्रकार अपयश
कमाया। उसके उपरान्त अनेक क्रान्तियाँ हुईं, जिनमें तन्त्रिन तथा एकां
(सैनिक तथा सैनिक-पुलिस) लोगों ने महत्वपूर्ण भाग लिया। अन्त में रान
दिद्दा सिंहासनारूढ़ हुई। उसने तथा उसके प्रियजनों ने जिनमें तुङ्ग प्रमुख थ
लगभग ५० वर्ष तक (९५८–१००३ ई०) राज्य पर अपना आधिपत्य कायम
रक्खा। तुङ्ग इसीलिये स्मरणीय है कि उसने महमूद गजनवी पर आक्रमण
किया, किन्तु विफल रहा। काश्मीर के इतिहास में मुसलमानों का यही प्रथम

उल्लेख है। उत्पलों के बाद लोहर-वंश काश्मीर के सिंहासन पर आया। उसमें एक ऐसा राजा हुआ जो काश्मीर के इतिहास में सम्भवतः सबसे बुरा शासक था, यद्यपि उसका नाम हर्ष था (१०८९–११०१ ई०)। हर्ष का मूल्यांकन करते हुए कल्हण लिखता है कि उसके रंगीन जीवन में "निर्दयता तथा दयालुता, लोभ तथा उदारता, हठ तथा उदासीनता, कपट तथा विचारहीनता तथा अन्य प्रत्यक्षरूप से विरोधी और असंगत गुणों का समावेश था।" उसे काश्मीर का नीरो कहा गया है और यह उचित ही है। राज्य में मुसलमानों का प्रवेश आरम्भ हो गया था। मुसलमानों की सैनिक टुकड़ियों ने गृह-युद्ध में भाग लिया। ११७२ ई० में लोहर-वश के अन्तिम राजा वन्तिदेव की मृत्यु के साथ-साथ उस वंश का भी अवसान हो गया। सुहदेव नामक राजा के शासन-काल (१३०१–२० ई०) में मुसलमानों का आक्रमण हुआ जिसके कारण पहले से चली आई अराजकतापूर्ण स्थिति और भी अधिक जटिल हो गई। मुसलमान आक्रमणकारी सभी हृष्ट पुष्ट शरीरवाले पुरुषों को दास बना कर ले गये और अपने पीछे तबाही तथा बर्बादी छोड गये। कुछ समय के लिये काश्मीर तिब्बत के शासन में रहा, उसके उपरान्त १३३९ ई० में शाहमीर नामक पहला मुस्लिम शासक शम्सुद्दीन के नाम से सिंहासन पर बैठा। शाहमीर योग्य मुसलमान था और सुहदेव के यहाँ नौकर रह चुका था।

(ख) नैपाल—नैपाल राज्य की स्थिति विचित्र है और भौगोलिक दृष्टि से वह भारत से पृथक है, इसलिये इस देश के इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा है। यद्यपि समय समय पर भारतीय नरेशों ने—चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ जैसे दूरस्थ शासकों ने भी—उसे जीत कर अपने राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया, फिर भी यह पर्वतीय राज्य अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने में सफल हुआ। मुसलमानों से नैपाल का प्रथम बार चौदहवीं शताब्दी (१३२०–२५ ई०) में तुगलक सुल्तानों के समय में सम्पर्क हुआ। तिरहुत के छोटे से राज्य को मुसलमानों ने नष्ट कर दिया और उसकी राजधानी सिमरावं को घेर लिया।

(ग) आसाम—दूरस्थ होने के कारण आसाम का भी हमसे अधिक प्रयोजन नहीं रहा है। उसके शासक रत्नपाल ने अनेक विजयें प्राप्त करने का दावा किया जिनमें चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६–११२६ ई०) तथा चोल राजेन्द्र प्रथम (१०२३ ई० के लगभग) पर प्राप्त विजयें भी सम्मिलित थीं। रत्नपाल ने जिन लोगों को परास्त किया उनमें अनेक लुटेरे झुण्डों का भी उल्लेख है, सम्भवत वे भाहिक तथा ताहिक मुसलमान थे। किन्तु आसाम का निश्चित रूप से मुसलमानों से सम्पर्क १३ वीं शताब्दी में हुआ। १२०५ ई० में इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार ने आसाम में होकर तिब्बत पर आक्रमण किया, जिसमें उसे भयकर विनाश का सामना करना पड़ा। १०,००० आक्रमण-

कारियों में से केवल सौ जीवित बच सके। १२५८ में आसाम पर भी प्रस आक्रमण किया गया, किन्तु उसका भी अधिक अच्छा परिणाम नहीं हु वास्तव में १७ वीं शताब्दी में औरंगजेब के समय तक आसाम मुसलमानों लिये मृत्यु की घाटी बना रहा। मीरजुमला के शब्दों में 'आसाम एक सकटों से जगली तथा भयकर देश है...... यह बहुत विस्तृत है और सत्यानाश उजड़ नगर की भाँति जीवन के लिये घातक है। संक्षेप में, प्रत्येक सेना को जि भी इस देश की सीमाओं के भीतर प्रवेश किया, उसे अपने जीवन से हाथ ध पड़े, जिस काफिले ने भी इस भूमि पर अपने पैर रक्खे उसे मृत्यु की सराय अपना सामान जमा करना पड़ा।'

२—हिन्दुस्तान के राज्य

उत्तर में हिमालय की पर्वत-मालाओं तथा दक्षिण में विन्ध्या की शृङ्खल से आबद्ध प्रदेश को ही हिन्दुस्तान कहते हैं, मुस्लिम आक्रमणों के समय प्रदेश में अनेक हिन्दू राज्यों का जमघट था। यह मैदान अविच्छिन्न रूप से सम है और इसमें नदियों का जाल बिछा हुआ है, इसीलिये इसे विजय करना स था। यही कारण था कि दीर्घकाल तक इस देश का इतिहास अगणित राज्यं निर्माण, विनाश तथा पुनर्निमाण का इतिहास रहा। उनके निजी वृत्तान्त सर देश की इतिहासरूपी भाषा की वर्णमाला मात्र हैं, उनका अर्थ उनके पार्थक्य नहीं बल्कि परस्पर गुथे हुए होने में अन्तर्निहित है। गान्धार, सिन्ध, कच्छ गुजरात, मालवा, साँभर, महोबा, चेदि, मगध, बगाल, काम्बोज और कलिंग वर्णमाला के अक्षर थे। भिन्न ढग से पढ़ने पर उनका यह उच्चारण होता थ ब्राह्मणशाही, राइ, परमार, गुर्जर, प्रतिहार, चौहान, चन्देल, चालुक्य (सोलं कालचुरि, पाल, सेन इत्यादि। उन सबमें एक ही विचार—अपना विस्ता अन्तर्निहित था और सबका एक ही परिणाम—नाश था। अब हमें यह देख कि उन्होंने यह सब किया कैसे। मुस्लिम आक्रमणों को ध्यान में रखते हुए हम उनका अध्ययन करें, तो अधिक सुविधाजनक रहेगा।

(घ) सिन्ध के राइ—भारत पर पहला मुस्लिम आक्रमण सिन्ध द्वारा हुआ; इसके सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में विस्तार से लिखेंगे। यदि अरब लेखकों के कथन को विश्वसनीय मानें तो उस समय सिन्ध पर एक ब्रा राज-वंश शासन करता था, जिसकी स्थापना छछ ने की थी। किन्तु युवान-च के कथनानुसार जिसने छछ के समय में सिन्ध का पर्यटन किया था, वह शूद्र बौद्ध-धर्मावलम्बी था। उससे पूर्व राइ-वंश के पाँच राजा हो चुके थे, जि १३७ वर्ष राज्य किया था।

(ङ) गान्धार का ब्राह्मणशाही वंश—काबुल की घाटी में युवा

राजा लगतूमनि ने ९ वीं शताब्दी के अन्त में शासन किया। उसके ब्राह्मण मंत्री कल्लार ने उसे अपदस्थ करके नये वंश की स्थापना की। प्रसिद्ध जयपाल, आनन्दपाल तथा त्रिलोचनपाल, जिनके सम्बन्ध में तीसरे अध्याय में हम विस्तार से लिखेंगे, इसी वंश के थे। उनके विषय में राजतरङ्गिणी में उल्लेख मिलते हैं, जिनकी पुष्टि अरब इतिहासकारों के लेखों तथा उपलब्ध सिक्कों से होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों के दबाव के कारण जयपाल को काबुल की घाटी को छोड़कर आधुनिक पटियाला में स्थित भटिंडा को अपनी नई राजधानी बनाना पड़ा; पंजाब की रक्षा करने के लिये भटिंडा अच्छा केन्द्र था। अरबों ने जयपाल को 'हिन्दुस्तान का राजा' कहा है।

(च) मालवा के परमार—परमार लोग मूलतः आबू पर्वत के निवासी थे। उपेन्द्र (अथवा कृष्णराज) के नेतृत्व में उन्होंने ९ वीं शताब्दी में मालवा को विजय कर लिया। उसके उत्तराधिकारियों में हर्षसिंह नामक एक शासक हुआ; उसने हूणों के विरुद्ध युद्ध किया, तथा ९७२ ई० में राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेत को लूटा। कहा जाता है कि उसके पुत्र मुञ्ज (वाक्पति द्वितीय) ने कर्नाटकों, लाटों, केरलों तथा चोलों पर विजय प्राप्त की और चेदि (आधुनिक मध्यप्रदेश) के कालचुरि नरेश युवराज को परास्त किया। इस दावे में कितनी ही अतिशयोक्ति हो, किन्तु इतना सत्य है कि मुञ्ज ने चालुक्यों के राज्य पर कम से कम छः सफल आक्रमण किये। ९९० ई० में जब उसने गोदावरी को एक बार पुनः पार करने का प्रयत्न किया तो वह पकड़ा गया और तैलप द्वितीय ने उसका वध कर दिया। इस वंश का महानतम शासक भोज हुआ जिसने १०१० ई० के लगभग से १०६५ तक शासन किया। किन्तु उस युग की प्रेरणा अर्थात् विजय की बलवती अभिलाषा ने उसको भी अनुप्राणित किया। उसने चेदि, लाट, कर्नाट आदि सभी निकटवर्ती राज्यों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष किया और अपने सभी पड़ोसियों से शत्रुता मोल ले ली। जब गुजरात के चालुक्य (सोलंकी) राजा भीम प्रथम ने सिन्ध पर आक्रमण किया, उसी समय भोज अपनी सेना लेकर गुजरात पर चढ़ गया; इसी प्रकार दक्षिण के सोमेश्वर द्वितीय चालुक्य ने स्वयं भोज पर आक्रमण किया और उसे मार भगाया। उस युग के पारस्परिक संघर्षों का यह एक आदर्श उदाहरण है। भोज अपने दीर्घकालीन शासन के अन्त तक युद्धों में उलझा रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन-काल में उसने तुर्की, आक्रमण-कारियों के प्रहारों का सफलतापूर्वक सामना किया किन्तु १२ वीं शताब्दी में उसके उत्तराधिकारी इतने दुर्बल हुए कि वे मुसलमानों के धावों को न झेल सके।

(छ) गुजरात के सोलंकी—गुजरात के हिन्दू-युग का प्रामाणिक इतिहास ७६५ ई० से प्रारम्भ होता है, जबकि यादव-वंश के बनराज ने अन्हिलवाड़ को हस्तगत कर लिया। इस वंश के अन्तिम शासक का उसके दामाद मूलराज ने ९६१ ई० में बध कर दिया और अन्हिलवाड़ के चालुक्य अथवा सोलंकी नामक

नये राजवंश की नींव डाली। जैन इतिहासकारों ने इस शासक की महानता की अत्यधिक प्रशंसा की है, किन्तु उसकी महानता के बाह्य चिन्ह कच्छ, काठियावाड़ तथा अजमेर के विरुद्ध आक्रमणकारी तथा रक्षात्मक युद्ध थे। मूलराज के उत्तराधिकारियों ने उनकी सैनिक परम्पराओं को कायम रक्खा। भीम प्रथम के सिन्ध पर आक्रमण का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। उसी समय भोज के नापति कुलचन्द्र ने भीम की राजधानी का सत्यानाश कर दिया, तभी से 'अन्हिलवाड़ की लूट' एक कहावत बन गई। किन्तु १०२४ ई० में महमूद गजनवी ने सोमनाथ के मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, भीम के शासन-काल की यह घटना अन्हिलवाड की लूट से भी अधिक प्रसिद्ध थी। सोलकी भीम अपने नामराशि महाभारत के भीम के सदृश नहीं निकला। अपने हिन्दू पड़ोसियों के लिये तो वह वीर था, किन्तु मुस्लिम आक्रमणकारियों के सामने वह दुम दबा कर भाग गया। गुजरात तथा सोलकियों के सम्बन्ध में अगले अध्याय में हम अधिक लिखेंगे।

(ज) उज्जैन के गुर्जर-प्रतिहार—गुर्जरों का सबसे पहला स्पष्ट उल्लेख हमें बाण के हर्षचरित तथा पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोल अभिलेख में मिलता है। दोनों में लाटों, मालवों और गुर्जरों की पराजय का जिक्र किया गया है। प्रतिहार, गुर्जरों की एक शाखा थे। हर्ष की मृत्यु के उपरान्त गुर्जर लोगों ने तीन केन्द्रों में अपनी शक्ति की स्थापना की—जोधपुर, अवन्ति तथा भड़ौच। ७२५-२९ ई० के लगभग जुनैद के नेतृत्व में अरबों ने गुर्जरों के राज्य को रौंद डाला, किन्तु ७३८ ई० के नौसारी के दानपत्र में अरबों की अन्तिम पराजय का उल्लेख है, जिसकी पुष्टि अरब इतिहासकार बलाधुरी ने भी की है। अन्य सूत्रों से भी हमें उज्जैन के गुर्जर-प्रतिहारों की दृढ़ स्थिति का साक्ष्य मिलता है, उन्होंने ८ वीं शताब्दी में पश्चिम से आने वाले म्लेच्छों के ज्वार का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया। उनका नेता नागभट्ट (७२५-४० ई०) था।

अवन्ति शाखा के चौथे राजा वत्सराज (७७९-८०० ई०) के समय में उत्तर भारत के आधिपत्य के लिये गुर्जरों, बंगाल के पालों तथा दक्खिन के राष्ट्रकूटों में त्रिभुजीय संघर्ष आरम्भ हुआ। वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय (८००-२९ ई०) ने कलिंग तथा सिन्ध आदि पश्चिमी तथा पूर्वी शक्तियों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये और बंगाल के धर्मपाल पर विजय प्राप्त की। एक ओर पालों की एक विशाल सेना को उसने मुंगेर के निकट परास्त किया और दूसरी ओर धर्मपाल के कर कन्नौज के चक्रायुध को धूल चटा दी। किन्तु कुछ समय तक गुर्जर लोग अपने दक्षिणी प्रतिद्वन्दी राष्ट्रकूटों के विरुद्ध विशेष सफलता न प्राप्त कर सके। गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट ने नागभट्ट तथा धर्मपाल दोनों को पराजित किया और हिमालय के चरणों तक अपनी विजय-पताका फहराई। किन्तु प्रतिहारों के वैभव के दिन अभी आने को थे। अपने महानतम शासक मिहिर भोज के राज्य-काल में, जिसने लगभग ५० वर्ष तक शासन किया, उन्होंने एक बार पुनः तीनों लोकों को विजय

करने का संकल्प किया। भोज शीघ्र ही सिन्ध तथा काश्मीर को छोड़ कर समस्त उत्तरी भारत का सम्राट बन बैठा, और कन्नौज को उसने अपनी राजधानी बनाया। यद्यपि वह अरबों का कट्टर शत्रु था, फिर भी अरब लेखकों ने उसकी अश्ववाहिनी के प्रताप की प्रशंसा की है और लिखा है कि उसका विस्तृत साम्राज्य अपराधों से सर्वथा मुक्त था। किन्तु दसवीं शताब्दी में भोज के उत्तराधिकारियों के समय में प्रतिहारों की भाग्य-लक्ष्मी क्षीण होने लगी। राष्ट्रकूटों ने पुन: उत्तरी भारत में अपनी विजयिनी तलवार की धाक बैठाई और इन्द्र तृतीय ने कुछ काल के लिये कन्नौज पर भी अधिकार कर लिया। चन्देल, चालुक्य, चेदि आदि छोटी शक्तियों तथा राज्यों ने विशाल प्रतिहार साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। किन्तु साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो जाने पर भी गुर्जर-प्रतिहारों ने दसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक मुसलमानों को उत्तरी भारत में प्रवेश करने से रोका। ६६१ ई० में कन्नौज के राजा राज्यपाल ने वीरतापूर्वक जयपाल शाही का साथ दिया, किन्तु कुर्रम घाटी के युद्ध में हिन्दुओं की जो पराजय हुई, उसमें उसे भी भागीदार बनना पड़ा। १००८ ई० में पेशावर के युद्ध में पुन: गुर्जरों ने आनन्दपाल शाही का पक्ष लेकर युद्ध किया। किन्तु हिन्दुओं का तुर्कों के विरुद्ध यह संघर्ष दिन-प्रतिदिन निष्फल होता गया। महमूद ग़ज़नवी ने पहले मथुरा और फिर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। राज्यपाल को मुस्लिम आक्रमणकारियों तथा चन्देलों के नेतृत्व में संगठित अपने आन्तरिक शत्रुओं के संघ के विरुद्ध साथ-साथ युद्ध करना पड़ा, इसलिये अन्त में उसकी पराजय हुई। उसके पुत्र त्रिलोचनपाल ने संघर्ष जारी रक्खा और कुछ काल के लिये इलाहाबाद में शरण ली। कन्नौज गाहड़वालों के आधिपत्य में एक शताब्दी तक और हिन्दुओं के ही अधिकार में बना रहा। तदुपरान्त उसको मुसलमानों ने हस्तगत किया।

(फ) अजमेर के चौहान—जिस वंश में प्रसिद्ध पृथ्वीराज हुआ, वह राजस्थान में स्थित साँभर पर दीर्घकाल से शासन करता आया था और चाहुमानु कहलाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी में चौहानों ने सिन्ध के अरबों को आगे बढ़ने से रोका। इसी वंश के अजयदेव ने ११ वीं शताब्दी में अजमेर की स्थापना की। पृथ्वीराज के चाचा विग्रहराज ने चौहान राज्य की सीमाओं का और भी अधिक विस्तार किया। पृथ्वीराज को मुसलमान इतिहासकारों ने राइ पिथौरा लिखा है, उसके वीरतापूर्ण कार्यों का राजस्थान के लोकप्रिय महाकाव्य 'चाँद राइसा' में देदीप्यमान वर्णन है। कन्नौज के राजा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता को नाटकीय ढंग से भगाने की उसकी कहानी का हिन्दुस्तान की सबसे अधिक लोकप्रिय गाथाओं में स्थान है। उसकी वीरतापूर्ण राजनैतिक सफलताओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध दो है—उसने चन्देल राजा परमर्दी के राज्य पर आक्रमण किया और उसे हराया, तदुपरान्त उसने मुहम्मद ग़ोरी का वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया और ११६१ ई० में तराओरी के प्रथम युद्ध में उसे परास्त किया किन्तु अन्तिम युद्ध में उसी रणक्षेत्र में पृथ्वीराज परास्त हुआ और बन्दी बना लिया गया।

मुसलमानों ने उसका वध कर दिया। उसके स्थानीय शत्रु जयचन्द्र ने उसके विरुद्ध मुसलमानों से षड्यन्त्र भले ही न किया हो किन्तु इस युद्ध में वह तटस्थ रहा और पृथ्वीराज के पराभव पर उसने प्रसन्नता प्रकट की।

(ण) कन्नौज के गहरवार—उपरोक्त घटना का धूर्त पात्र जयचन्द्र भी अपने दामाद के पतन के उपरान्त दूसरे ही वर्ष (११९३ ई०) मुहम्मद गोरी के योग्य सेनापति एबक द्वारा पराजित हुआ। जयचन्द्र गहरवार अथवा गाहड़वाल वंश का था जिसने प्रतिहारों को अपदस्थ किया था। गोविन्दचन्द्र (१११२-५५ ई०) इस वंश का महानतम शासक हुआ, उसने मुसलमानों के आक्रमणों से बनारस की रक्षा की, तथा पालों से पटना को छीन कर अपने राज्य की सीमाएँ कन्नौज से बिहार तक पहुँचा दीं। किन्तु उसके पौत्र जयचन्द्र के समय में मुसलमानों ने बनारस पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ के मन्दिरों को तोड़ कर उनके स्थान पर मसजिदों का निर्माण कराया।

(त) महोबा (जैजाकभुक्ति) के चन्देले—इस वंश के राजा परमर्दी (परमाल) को पृथ्वीराज चौहान के हाथों पराजय भुगतनी पड़ी, इसका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। यह घटना ११८२ ई० की थी। बुन्देलखण्ड के चन्देले गोंड नस्ल के निर्भीक तथा शक्तिशाली जाति के थे; मध्ययुगीन भारत के इतिहास में उन्होंने महत्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने गौड, कोसल, मालव, चेदि कालचुरि तथा गुर्जर आदि अपने सभी पड़ौसियों के विरुद्ध निरन्तर
उनकी राजधानी महोबा थी, इस वश के यशोवर्मन (९३०-५० ई०)
दुर्ग को हस्तगत करके अपनी शक्ति को और भी अधिक सुदृढ़ कर।
खजुराहो के महान् मन्दिर का निर्माण कराया और कन्नौज के राजा
विष्णु की एक प्रतिमा छीन कर उसमें प्रतिष्ठित की। यशोवर्मन
और भी अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसने ५० वर्ष (९५०-९९ ई०) तक रा
जयपाल ने सुबुक्तगीन के विरुद्ध जो संयुक्त मोर्चा खड़ा किया, उसमें
होनेवाले हिन्दू राजाओं में धग का प्रमुख स्थान था। उसका पुत्र र.
कन्नौज के राज्यपाल ने महमूद ग़ज़नवी के सम्मुख अस्त्र डाल दिये थे, इ.
उस पर क्रुद्ध होकर गंड ने उसके विरुद्ध एक विशाल सेना भेजी और १०१
उसे मार डाला। इस वंश का अन्तिम महत्वशाली राजा परमर्दी (प.
हुआ जिसका पहले हम अनेक बार उल्लेख कर चुके हैं। उसे १२०३
कुतुबुद्दीन एबक ने हराया, कालिञ्जर का प्रसिद्ध किला जो मध्ययुगीन इति
बहुत प्रसिद्ध था, मुसलमानों ने हस्तगत कर लिया, उसके मन्दिरों को मसजि
परिवर्तित कर दिया, उसके विशाल कोष को लूटा और हजारों हिन्दुओं को दास बना कर ले गये।

(थ) चेदि (मध्य प्रदेश) के कालचुरि—इनके सम्बन्ध में विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। इनके वश के लोग प्राचीन काल से मध्य

भारत पर शासन करते आये थे। उनके राजनैतिक इतिहास की कुछ सुप्रसिद्ध घटनाओं का ही यहाँ हम उल्लेख कर सकते हैं; उन्होंने कन्नौज के मिहिर भोज, मालवा के भोज, कृष्ण द्वितीय राष्ट्रकूट, सोमेश्वर प्रथम चालुक्य तथा पालों और कलिंगों के विरुद्ध युद्ध किये। १२ वीं शताब्दी के अन्त तक उनका महत्त्व पूर्णतया घट गया, बघेलों ने उनका स्थान ले लिया और अन्त में मुसलमानों ने उन्हें समाप्त कर दिया।

(द) बंगाल के पाल तथा सेन—७६५-७० ई० में गोपाल ने पाल राज्य की स्थापना की, उससे पहले के बंगाल के इतिहास का वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। गोपाल के बाद धर्मपाल राजा हुआ। उसके शासन काल में पाल राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो गया और आक्रमणकारी नीति का अनुसरण करने लगा। पालों, राष्ट्रकूटों तथा गुर्जरों में उत्तरी भारत के प्रभुत्व के लिये जो त्रिदलीय संघर्ष हुआ, उसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। धर्मपाल ने कन्नौज तक आक्रमण किया और अपनी अधीनता में चक्रायुद्ध को वहाँ का शासक नियुक्त किया। किन्तु वत्सराज तथा नागभट्ट द्वितीय गुर्जर से अपनी प्रतिद्वन्दता के कारण धर्मपाल ने राष्ट्रकूटों का साथ दिया और उनके हाथ की कठपुतली बन गया। मिहिर भोज ने बंगाल पर आक्रमण किया और ९ वीं शताब्दी के अन्त में मगध को प्रतिहार साम्राज्य में मिला लिया। यद्यपि गुर्जरों के पराभव के काल में बंगाल ने अपनी खोई हुई भूमि के अधिकांश को पुनः जीत लिया, किन्तु कृष्ण द्वितीय तथा इन्द्र तृतीय के समय में राष्ट्रकूटों ने और राजेन्द्र प्रथम के शासन-काल में (१०२३ ई०) दूरस्थ चोलों ने भी उत्तर-पूर्वी भारत के धनी प्रदेशों में धावे मारे। १०२० ई० के लगभग महिपाल प्रथम के समय में बंगाल की स्थिति पुनः आंशिकरूप से सुधर गई। उसके उपरान्त १०४४-६२ ई० के लगभग विक्रमादित्य चालुक्य ने गौड तथा कामरूप (बंगाल तथा आसाम) पर आक्रमण किया। दक्षिण के इन आक्रमणों के अतिरिक्त पालों को अपने पड़ोसी शत्रुओं का भी सामना करना पड़ा जिनमें पूर्व में काम्भोज तथा पश्चिम में गाहडवाल मुख्य थे। इन आक्रमणों के बीच पालवंश प्रत्येक पीढ़ी में पहले से अधिक दुर्बल होता गया और अन्त में ११९९ ई० में मुसलमानों के सामने उसने घुटने टेक दिये।

सेन लोग मूलतः कर्नाटक के निवासी थे और चालुक्य विक्रमादित्य ने जब बंगाल पर आक्रमण किया, इसी समय वे उस राज्य में बस गये होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि विजयसेन सेन-वंश की शक्ति का वास्तविक संस्थापक था। उसने ११०० से ११६५ ई० तक शासन किया। "अपने देवपाड़ा के अभिलेख में उसने दावा किया है कि मैंने नव्य तथा वीर को परास्त किया, गौड़ के स्वामी पर आक्रमण किया, कामरूप के राजा का दर्प चूर्ण किया, कलिंग नरेश की रक्षा की, अनेक छोटे-मोटे शासकों को बन्दी बनाया और अपना जहाजी बेड़ा गंगा में ऊपर की ओर चलाया।" विजयसेन के पौत्र लक्ष्मणसेन ने अपने राज्य

भिल्लम ने ही यादवों की नई राजधानी देवगिरि की नींव डाली। यादवों ने वारंगल के काकतीय तथा द्वारसमुद्र के हौयसलों के विरुद्ध, जो दक्खिन में अपनी शक्ति का प्रसार करने का प्रयत्न कर रहे थे, युद्ध किया। यद्यपि अपने इन प्रतिद्वन्दियों के विरुद्ध उन्हें सफलता प्राप्त हुई, तथापि रामचन्द्र (१२७१-१३१० ई०) तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में उन्हें अलाउद्दीन खलजी तथा मलिक काफूर के सम्मुख घुटने टेकने पड़े और उसके उपरान्त वे फिर कभी न उठ सके।

(प) कदम्ब, गंग तथा हौयसल—कर्नाटक के इन तीन राज्यों का उत्थान और पतन भी इसी युग में हुआ। इनमें से प्रथम दो का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका था और हौयसलों की महान् शक्ति के उदय तक वे फलते-फूलते रहे। कदम्ब लोग कनारा तथा उत्तरी कर्नाटक के ज़िलों और गंग लोग मैसूर पर शासन करते थे। १२ वीं शताब्दी के प्रारम्भ (११३०) में विष्णुवर्धन हौयसल ने कदम्बों के राज्य पर आक्रमण किया और उनके प्रमुख नगरों—बनवासी तथा हंगल—को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अन्य वंशों की तुलना में हौयसल-वंश नया ही था। यद्यपि वे अत्यधिक प्राचीन होने का दावा करते थे, तथापि इतिहास के रंगमंच पर वे ११ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही प्रकट हुए। इसके बाद उन्होंने दक्षिण में चोलों तथा पाण्ड्यों और उत्तर में कदम्बों तथा चालुक्यों का दमन करके अपनी शक्ति का निर्माण किया। किन्तु जब तक दक्खिन के आधिपत्य के लिये इन शक्तियों में वास्तविक संघर्ष प्रारम्भ हुआ, तब तक विदेशी उनके फाटकों पर आ धमके। देवगिरि के पतन के बाद मलिक काफूर ने हौयसलों की राजधानी द्वारसमुद्र (मैसूर राज्य में स्थित हलीबीद) को घेर लिया और उनके राजा वीर बल्लाल तृतीय को बन्दी बना कर दिल्ली ले गया (१३१० ई०)। उसी समय इस खलजी सेनापति ने गोआ को, जहाँ पर कदम्ब लोग अब भी शासन कर रहे थे, नष्ट कर दिया। कोकंण के कदम्बों पर अन्तिम प्रहार मुहम्मद तुगलक ने १३२७ ई० में किया। इब्नबतूना लिखता है कि कदम्ब राजा के एक विद्रोही पुत्र ने मुसलमानों को दक्षिण में आमन्त्रित किया था।

(फ) वारंगल के काकतीय—दक्खिन का अन्तिम राजवंश जिसका हमें यहाँ उल्लेख करना है, वारंगल के काकतीयों का था। मूलतः वे तैलंगाना अथवा तैलुगू प्रदेश के निवासी थे। वारंगल नगर का निर्माण इस वंश के राजा प्रोलराज ने ११३० ई० में किया था। कहा जाता है कि उसके पुत्र प्रतापरुद्रदेव प्रथम (११६३ ई० के लगभग) ने यादवों तथा उड़ीसा के राजा पर विजय प्राप्त की। इस वंश के अन्य शासक गणपति ने ११९९ ई० में चोलों को परास्त किया। काकतीय वंश के अन्तिम राजा से ठीक पहले रुद्रम्मा नामक एक रानी ने शासन (१२६१ ई०) किया। मार्कोपोलो लिखता है कि वह चतुर तथा न्यायप्रिय शासक थी। उसका उत्तराधिकारी प्रतापरुद्रदेव द्वितीय (१२९१-१३३० ई०) काकतीयवंश का अन्तिम राजा था। १३३० ई० में उसकी मृत्यु हुई, किन्तु उससे पहले ही सर्वव्यापी काफूर वारंगल में प्रवेश कर चुका था। प्रतापरुद्रदेव ने आक्रमणकारी को

बहुत सा सोना तथा जवाहरात भेंट करके अपनी रक्षा करने का प्रयत्न किया। किन्तु होनहार होकर ही रही। प्रतापरुद्रदेव बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया और अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले दिल्ली सुल्तान के करद सामन्त के रूप में ही अपने राज्य को लौट सका।

४—दक्षिणी भारत के राज्य

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, इस समूह में कांची के पल्लव, तंजोर के चोल, मदुरा के पाण्ड्य तथा मालाबार के चेर सम्मिलित थे। प्रायद्वीप के छोर पर स्थित होने पर भी ये राज्य दिल्ली के दूरगामी आक्रमणों से मुक्त न रह सके।

(अ) पल्लव—पल्लवों की उत्पत्ति का प्रश्न अभी अन्धकार में ही है। ऐसा माना जाता है कि उनका सम्बन्ध दक्षिणी भारत की किसी जाति से नहीं था, वरन् वे विदेशी शासकों के वंशज थे। हमारे उद्देश्य के लिए इतना स्मरण रखना ही पर्याप्त है कि हर्ष के समय में उनका राज्य पुलकेसिन द्वितीय का शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी था। इस वंश के नरसिंहवर्मन महान् ने ही चालुक्यों की राजधानी वातापी को नष्ट किया और पुलकेशिन को मार डाला (६४२ ई०)। कहा जाता है कि उसने चोलों, पाण्ड्यों और चेरों को भी बारम्बार पराजित किया। उसने लंका पर भी कई सफल आक्रमण किए। यहाँ हमें पल्लव राजाओं के शासन में जो निरन्तर युद्ध हुए, उनका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। ये युद्ध उत्तर में चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों, पश्चिम में गंगों तथा दक्षिण में चोलों तथा पाण्ड्यों के विरुद्ध लड़े गये थे। पल्लव वंश का अन्तिम शासक अपराजित हुआ। चोल-वंश के आदित्य प्रथम द्वारा पराजित होकर उसने अपने नाम (अपराजित) को झूठा सिद्ध किया। उसके साथ साथ ९ वीं शताब्दी के अन्त में पल्लवों की शक्ति का भी अवसान हो गया।

(ब) चोल—यद्यपि चोलों का इतिहास अत्यन्त पुरातन है किन्तु हमारे अध्ययन की दृष्टि से आदित्य प्रथम की विजय के पश्चात् चोल-शक्ति के पुनरुत्थान का ही अधिक महत्व है। उसके पुत्र परान्तक (९०७-९४७ ई०) के वीरतापूर्ण कार्यों का अनुमान हम उसके विरुद 'मदुरइयम इन्नुम कोंडन' (मदुरा तथा लंका का विजेता) से ही लगा सकते हैं। उसका ज्येष्ठ पुत्र राजादित्य कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट के विरुद्ध युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। राजराज महान् (९८५-१०१६ ई०) तथा राजेन्द्र गंगईकोंड (१०१६-४२ ई०) महान्तम चोल शासक हुए। उनके नेतृत्व में चोलों ने समस्त दक्षिणी भारत का स्वामित्व ही नहीं प्राप्त कर लिया, वरन गंगा के तटों पर तथा समुद्र पार वृहत्तर भारत पर भी आक्रमण किए और उन प्रदेशों में अपनी कीर्ति पताका फहराई। उन्होंने पाण्ड्यों, चेरों, सिंहलों, गंगों, पूर्वी तथा पश्चिमी चालुक्यों, कदम्बों, राष्ट्रकूटों और कलिंगों के राज्यों को विजय किया। कलिंग को आधार

बनाकर समुद्रगुप्त की नीति का अनुसरण करते हुये चोलों ने बिहार तथा बंगा की दिग्विजय की, और वहाँ से मुड़ कर ब्रह्मा, बंगाल की खाडी के द्वीपों तथा भा तीय द्वीप समूह (जावा, सुमात्रा आदि) को जीता। इन चक्करदार विज अभियान के उपलक्ष में चोलों की नई राजधानी गगईकोंड-चोलपुरम की स्थाप की गई। किन्तु इन महान् विजयों के बावजूद चोल-शक्ति अधिक दिनों तक टिक सकी। राजेन्द्र चोल की १०४२ ई० में मृत्यु होगई। वह एक साम्राज्य विर सत के रूप में छोड़ गया, किन्तु उसके कम योग्य उत्तराधिकारियों को प्रतिरक्ष त्मक युद्ध ही उत्तराधिकार में मिले। ११२७ ई० तक कुलोत्तुङ्ग के समय में समुद्र पार के उपनिवेशों पर से चोलों का स्वामित्व उठ गया। राजाधिराज द्वितीय त राजेन्द्र तृतीय के समय में गृह युद्ध छिड़ गये और करद सामन्तों ने भी विद्रो करने आरम्भ कर दिये। इन परिस्थितियों में द्वारसमुद्र के होयसलों (सोमेश्व १२२०-३५ ई० के नेतृत्व में), मदुरा के पाण्डयों (सुन्दर पाण्डय नामक ती राजाओं १२१६-७१ ई० के समय में) वारगल के काकतीयों (विशेपकर रा रुद्रम्मा- १२६०-१७६१ ई० की आधीनता में) आदि सीमास्थ शक्तियों ने चोत की भूमि को लूट-खसोटकर शीघ्रता से अपने राज्यों को सुसगठित तथा विस्तृ कर लिया।

(म) पाण्ड्य—पाण्ड्य लोग मूलत चोलों के (९९५-१२१६) अधी थे। बाद में जिन परिस्थितियों में उन्होंने अपनी स्वाधीनता की पुन स्थापना क उनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (१२१ ३९ ई० ने चोलों के राज्य को लूटा, आग लगाई और नरसहार किया। उस पौत्र जाटवर्मन सुन्दर पाण्ड्य (१२५१-६८ ई०) के समय में मदुरा शक्ति क चरम सीमा पर पहुँच गया। ऐसा प्रतीत होता है कि चोलों को अभिभूत करने अतिरिक्त जाटवर्मन ने होयसलों को कन्ननूर (श्रीरगम के उत्तर में) से मा भगाया, कांची पर अधिकार कर लिया और काकतीय राजा गणपति को हराया उसने नीलौर तक अपनी शक्ति का विस्तार किया। बौद्ध ग्रन्थ 'महावश (१२८४ ई०) में कहा गया है कि उसके उत्तराधिकारी कुलशेखर (१२६८ १३११ ई०) ने सिंहलों तथा लका को विजय किया। किन्तु कुलशेखर के जीवन का में ही उसके पुत्रों—सुन्दर तथा वीर पाण्ड्य—में गृह-युद्ध छिड़ गया। कहा जात है कि सुन्दर ने अपने पिता का बध कर दिया और दक्षिण में मुस्लिम-सत्ता के प्रथ संस्थापक मलिक काफूर को अपनी सहायतार्थ आमन्त्रित किया (१३१०-११ ई०) इस प्रकार पाण्ड्यों के वैभव का अन्त होगया।

(य) चेर—अब हमें यहाँ दक्षिणी भारत के प्राचीन द्रविड़ राज्यों में केवल एक का और उल्लेख करना है। चेरों के उत्कर्ष का युग दक्षिणी भारत में मुसलमानों के प्रवेश करने से बहुत पहले समाप्त हो चुका था। इस वश का महानतम शासक सेनगुत्तुवन चेर (दूसरी शताब्दी ई० पू०) अर्द्ध-ऐतिहासिक

तथा अर्द्ध-पौराणिक व्यक्ति था। यह गलत विश्वास है कि पैरुमाल (बाद के मालाबार के शासक इसी नाम से पुकारे जाने लगे थे) शासकों में से एक ने इस्लाम अङ्गीकार कर लिया था और मक्का की तीर्थयात्रा के दौरान में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। नवीं शताब्दी में इस राजवंश का अन्त हो गया और तत्पश्चात कुलशेखर पैरुमालों का उत्कर्ष हुआ। वे आधुनिक त्रावनकोर के शासकों के पूर्वज थे। यह स्मरणीय बात है कि मालाबार मलिक काफूर से पहले ही मुसलमानों के प्रभाव में आ चुका था। 'तुहफुत-उल-मुजहद्दीन' का रचियता शेख जैनुद्दीन जो स्वयं एक मालाबारी मुसलमान था और जो बीजापुर के सुलतान आदिलशाह के दरबार में रहता था, अपने ग्रन्थ में लिखता है कि पैगम्बर मुहम्मद के समय में ही मुसलमान लोग मालाबर में बसने लग गये थे। किन्तु अधिक प्रामाणिक इतिहास के आधार पर ८ वीं शताब्दी से मालाबार में मुसलमानों का आगमन माना जाता है।

ब—समाज तथा संस्कृति

ऊपर दी हुई राजनैतिक इतिहास की रूप रेखा के अवलोकन से पाठकों को हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) तथा सुदूर दक्षिण में मुसलमानों के पहुँचने (१३१२ ई०) के बीच की शताब्दियों में भारत की दुर्बलता का आभास हो जायगा। राजनैतिक दृष्टि से भारत इतना भेद्य कभी नहीं रहा था जितना कि इन सात शताब्दियों में। उत्तर अथवा दक्षिण में ऐसी कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं थी जो अकेले ही आक्रमणकारी का सामना कर सकती। न एकता की ऐसी भावना ही थी जिससे कम से कम सार्वदेशिक सकट के समय अगणित राज्य एकत्र हो सकते। उत्तर में प्रतिहारों तथा दक्षिण में चोलों के नेतृत्व में कुछ समय के लिये ऐसी एकता अवश्य स्थापित हो गई थी और यदि वह कुछ अधिक कायम रहती तो सम्भवतः देश की रक्षा हो जाती। किन्तु इन दो शक्तियों की सफलता भी आकस्मिक थी और सदैव झिलमिल रही। उन्हे मिहिर भोज, नागभट्ट, राजराज, राजेन्द्र आदि महापुरुषों से प्रेरणा तथा बल मिलता था, न कि सामान्य जनता से जो शक्ति का अधिक स्थायी स्रोत होती है। इस युग के सार्वदेशिक संघर्ष जिनका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, प्रादेशिक-भक्ति की भावनाओं से अनुप्राणित जनता के बीच अथवा विरोधी धर्मों के अनुयायियों के बीच युद्ध नहीं थे, वे तो सदैव महत्वाकांक्षी राजाओं के निजी स्वामिभक्ति अथवा भाड़े के टट्टू अनुयायियों के बीच ही हुआ करते थे। इसलिए इस युग के वास्तविक जीवन को समझने के लिए हमें शासकों को छोड़ कर जनता, समाज तथा संस्कृति की ओर ध्यान देना चाहिए।

देश के जीवन को ढालने वाले दो तत्व—सामूहिक रूप से जनता उचित नेतृत्व के बिना कभी सक्रिय नहीं होती। प्रभावोत्पादक नेतृत्व के होने पर

से पालन करते और सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में पूर्ण उतरते, उन्हें वह सिंहासन (सर्वोच्च स्थान) पर बिठलाता और उनसे धार्मिक उपदेश ग्रहण करता, जो आचरण सम्बन्धी नियमों के पालन में पूर्ण होते किन्तु विद्वान न होते, उनके प्रति वह केवल रस्मपूर्वक सम्मान प्रकट करता और जो नियमों की अवहेलना करते और दुराचरण के लिये बदनाम होते उन्हें वह अपने सामने से तथा देश से निर्वासित कर देता। उन पड़ोसी राजकुमारों तथा राजनीतिज्ञों को जिनमें धार्मिक कार्यों के लिये उत्साह होता और जो श्रेष्ठता की खोज में अथक रूप से प्रयत्नशील रहते, उन्हें वह अपने सिंहासन पर बिठलाता और उन्हें 'सन्मित्र' कह कर पुकारता, और इससे भिन्न चरित्रवालों से बात करना भी पसन्द नहीं करता था। प्रजा की दशा का निरीक्षण करने के लिये राजा अपने समस्त राज्य का दौरा किया करता था, एक स्थान पर वह अधिक नही टिकता था, बल्कि यात्रा के प्रत्येक स्थान पर रहने के लिये अस्थायी शिविर बनवा लिया करता था। राज-शिविरों में प्रति दिन १००० बौद्ध भिक्षुओं तथा ५०० ब्राह्मणों को भोजन बाँटा जाता था। राजा ने दिन को तीन भागों में विभक्त कर रक्खा था, जिनमें से एक को वह राजकीय कार्यों और दो को धार्मिक कृत्यों में व्यय किया करता था। वह कभी थकता न था और दिन उसके लिये बहुत छोटा था।'

यह चित्र एक मध्ययुगीन शासक के सर्वोत्कृष्ट रूप का है, इससे अच्छा शासक होना कदाचित ही सम्भव हो सके। यह चित्र प्रामाणिक है इसलिये इससे हम निश्चयपूर्वक यह जान सकते हैं कि मध्यकालीन भारत के अच्छे राजाओं के क्या आदर्श थे, और वे क्या करते थे। बौद्ध तथा जैन धर्मों का पराभव हो रहा था, कुछ राजा हिन्दू धर्म के नये उदीयमान सम्प्रदायों में से किन्हीं के अनुयायी हो सकते थे, किन्तु सामान्य प्रवृत्ति वही थी जो हर्ष की। अपने से भिन्न धर्मों के अनुयायियों पर धर्म के नाम पर अत्याचार करना एक अनहोनी सी बात थी। यही कारण था कि जैन, शैव, वैष्णव, पाशुपत, जगम, तान्त्रिक, सूर्योपासक, अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और यहाँ तक नास्तिक और अनीश्वरवादी भी एक ही देश में निवास करते थे और फिर भी कभी साम्प्रदायिक झगडे नहीं सुने गये। बहुधा आध्यात्मिक विषयों पर अत्यन्त उग्र और आवेशपूर्ण शास्त्रार्थ हो जाते थे और धार्मिक आचार्य तथा नेता एक दूसरे को चिनौती दिया करते थे किन्तु इनका रूप शास्त्रीय होता था और अस्थायी तथा स्थानीय हलचल के अतिरिक्त इनका कोई महत्त्व नहीं रहता था। कभी-कभी कोई राजा अपना धर्म त्याग कर किसी अन्य सम्प्रदाय का अनुयायी हो जाता, किन्तु वह अपनी प्रजा को अपने मार्ग पर चलने के लिये बाध्य नहीं करता था। मध्ययुगीन हिन्दू राजा सभी धर्मों को आश्रय तथा संरक्षण प्रदान करते थे, उन्होंने अपने धर्म को प्रजा पर लादने का कभी प्रयत्न नहीं किया।

प्राक् मुस्लिम भारत में प्रचलित धार्मिक सहिष्णुता के इतिहास का अध्ययन रुचिकर तथा शिक्षाप्रद है। किन्तु यहाँ इस विषय पर अधिक लिखना अप्रासंगिक

होगा। हर्ष की भाँति मध्ययुगीन भारत के सभी महान् शासक राजकीय तत्वाविधान में धर्म-सम्मेलनों का आयोजन किया करते थे। उनके निजी विचार कुछ भी रहते, किन्तु वे निष्पक्ष निर्णायकों के रूप में कार्य करते, और सभी को समान रूप से संरक्षण प्रदान करते थे। अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के साथ तो लगभग पुत्रवत व्यवहार किया जाता था। विजयनगर के बुक्कराय प्रथम का १३६८ ई० (लगभग) का एक उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुआ है, उसमें जैनों तथा वैष्णवों में होने वाले विवाद का राजा ने कैसे निर्णय किया, उसका रोचक वर्णन है—

'राजा ने जैनों का हाथ लिया और उसे अठारह नाडुओं के वैष्णवों, जिनमें उन स्थानों के आचार्य भी सम्मिलित थे, हाथों पर रक्खा और घोषणा की कि वैष्णव-दर्शन और जैन-दर्शन में कोई भेद नहीं है। यदि भक्तों के कारण जैन-दर्शन को किसी प्रकार की हानि अथवा लाभ हो तो वैष्णव लोग देखेंगे कि इनसे उनके दर्शन को भी हानि अथवा लाभ पहुँचेगा। श्री वैष्णवों को चाहिए कि वे कृपा करके राज्य की समस्त बस्तियों में इस सम्बन्ध में शासन स्थापित करदें कि जब तक सूर्य तथा चन्द्रमा विद्यमान हैं तब तक वैष्णव जैन-दर्शन की रक्षा करेंगे। वैष्णव तथा जैन एक ही शरीर हैं, उन्हें भिन्न नहीं समझना चाहिए।'

स्थानाभाव के कारण यहाँ हम इस युग के धार्मिक इतिहास का अधिक विस्तार से वर्णन नहीं कर सकते। किन्तु इसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना आवश्यक है, जिससे उसकी मुख्य विशेषताओं का परिचय मिल सके। यद्यपि बौद्ध धर्म का पराभव युवान-च्वांग के समय से प्रारम्भ हो गया था, फिर भी पाल तथा सेन राजाओं के समय तक बंगाल और बिहार में उसके अनुयायी बने रहे। विक्रमशिला के महान् बौद्ध-विहार का निर्माण, जिसमें १०७ मंदिर तथा ६ विद्यालय थे, धर्मपाल (७७०-८१५ ई०) ने करवाया था। बारहवीं शताब्दी के अन्त में (११९७-९९ ई०) जब मुसलमानों ने बंगाल और बिहार पर आक्रमण किया, उसी समय इस लुप्तप्राय धर्म के बचे-खुचे अनुयायी भी समाप्त होगये और उनके मठों का पूर्ण रूप से विध्वंस कर दिया गया। जैन-धर्म अधिक काल तक जीवित रहा और विशेषकर दक्षिणी भारत में। दक्षिण के सभी प्रमुख राजवंशों में उसे संरक्षक प्राप्त होते रहे। इसीलिए वह राष्ट्रकूटों, चालुक्यों, गंगों तथा होयसलों के राज्यों में फलता फूलता रहा, विष्णुवर्धन होयसल (११००-४१ ई०) तथा विज्जल कालचुरि (११५६-६७ ई०) के समय से जबकि वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों का क्रमानुसार अभ्युदय हुआ, उसका पराभव होने लगा। फिर भी उसका पूर्णरूप से लोप नहीं हुआ और आज तक प्रायद्वीप के सभी भागों में उसके अनुयायी पाये जाते हैं। पश्चिमी भारत में गुजरात का कुमारपाल (११४३-७२ ई०) उसका महान् संरक्षक था।

मुसलमानों की भारत-विजय से ठीक पहले के युग में हिन्दू समाज के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को सुधारने का जिन धार्मिक आचार्यों को श्रेय था, उनमें

पौरुष तथा साहित्यिक अभिरुचि के समन्वय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उनमें से कुछ ये हैं, मालवा का भोज परमार, मैसूर का दुर्विनीत गंग, मालखेद का अमोघवर्ष राष्ट्रकुट, कांची का महेन्द्रवर्मन पल्लव प्रथम—ये सब शासक कवि भी थे, जिन लोगों ने महान् लेखकों को संरक्षण तथा आश्रय दिया उनकी संख्या अगणित थी। राज्यों की राजधानियों तथा समस्त देश में बिखरे हुए मन्दिरों के अतिरिक्त नालन्दा, विक्रमशिला, बनारस, उज्जैन और कांची विद्या के सबसे अधिक विख्यात केन्द्र थे। यदि हम राजशेखर, भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि की शुद्ध साहित्यिक रचनाओं तथा शंकराचार्य, जयदेव आदि के दार्शनिक तथा धार्मिक ग्रन्थों की गणना न भी करें, तो भी हमें इस युग में रचे हुए अनेक ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनका ऐतिहासिक तथा सामाजिक महत्त्व है जैसे पद्मगुप्त का नवसहसांक-चरित, बिल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित, कल्हण की राजतरङ्गिणी, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस तथा विज्ञानेश्वर का मिताक्षरा। वैज्ञानिक ग्रन्थों में भास्कराचार्य के ज्योतिष तथा गणित सम्बन्धी ग्रन्थ जैसे सिद्धान्त-शिरोमणि, लीलावती, बीजगणित तथा भोज का राजमार्तण्ड, आयुर्वेदिक तथा रासायिनिक रचनाओं में रसार्णव, रसहृदय तथा रसेन्द्र चूड़ामणि आदि अधिक उल्लेखनीय हैं। यदि हम इस विस्तृत तथा बहुमुखी संस्कृति-साहित्य में चाँद-राइसा तथा हिन्दी के अन्य अनेक ग्रन्थों और बंगला, मराठी, कन्नड़ तामिल आदि की रचनाओं को भी सम्मिलित करना चाहें, तो हमें इस ग्रन्थ की सीमाओं के बाहर जाना पड़ेगा।

राज्य के अन्तर्गत राज्य—हम आरम्भ में ही लिख आये हैं कि मुस्लिम आक्रमणों के समय हिन्दू भारत राजनैतिक दृष्टि से भेद्य तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अभेद्य था। राजनैतिक इतिहास की रूपरेखा तथा राज्यों के बीच निरन्तर होने वाले युद्धों का जो ऊपर हम उल्लेख कर आये हैं, उससे इस कथन की सत्यता पूर्णतया स्पष्ट हो गई होगी कि आन्तरिक दृष्टि से भारत इतना विभक्त था और पारस्परिक कलह के कारण इतना छिन्न-भिन्न हो चुका था कि उसके लिये संयुक्त होकर विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना असम्भव था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें ऐसा करने की इच्छा भी नहीं शेष रह गई थी। परस्पर संघर्ष करने वाले अगणित राज्यों का समूह होने के नाते भारत केवल एक भौगोलिक नाम था, इसलिये राजनैतिक दृष्टि से उसके लिये व्यक्तिवाचक सर्वनाम 'वह' का प्रयोग करना भी उचित नहीं है। क्या सांस्कृतिक दृष्टि से भारत अभेद्य था? निस्सन्देह राजनैतिक रूप से छिन्न-भिन्न होने पर भी भारत में सांस्कृतिक एकता थी। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक सभ्यता की एकता थी और उस पर हिन्दुत्व की छाप लगी हुई थी, साथ ही साथ वैयक्तिक तथा प्रान्तीय भिन्नताओं के लिये भी पर्याप्त क्षेत्र था। यदि हम यहाँ उस सभ्यता का पूर्ण चित्र उपस्थित करना चाहें तो उसके लिये इस सम्पूर्ण ग्रन्थ से भी अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु ऊपर हम धर्म, शासकों, स्थापत्य तथा साहित्य के सम्बन्ध में जं

लिख आये हैं उससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि पतन के युग में भी वास्तव में भारत क्या था। उपर्युक्त विशेषताएँ सार्वदेशिक थीं और बाहरी राजनैतिक ढाँचे के भूमिसात होने पर भी वे छिन्न-भिन्न नहीं हुईं। भारत का यह एक रहस्यवादी दार्शनिक विचार है कि विश्व के अगणित रूपों के क्षणिक अस्तित्व के पीछे एक अमरतत्व अन्तर्निहित है, इस दार्शनिक कारण के अनुरूप ही राज्यों तथा साम्राज्यों के बारम्बार छिन्न-भिन्न होने पर भी उसके राष्ट्रीय-चरित्र का सार अक्षुण्ण रहा। इस आश्चर्यजनक अन्तर्विरोधी तथ्य का क्या कारण था?

राज्य के अन्तर्गत एक दूसरा राज्य था और जब आक्रमणकारी सेनाएँ देश में चारों ओर छा गईं और राजाओं तथा राज्यों को उन्होंने नाच नचाया उस समय इसी दूसरे राज्य ने जनता तथा उसकी संस्कृति की देख-भाल की। श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित जटिल जाति-व्यवस्था के कारण युद्ध कुछ पेशेवर लोगों की खिलवाड़ था और क्षत्रियों के अतिरिक्त सभी लोग उससे दूर रहना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। इस्लाम के आगमन के समय तक देश के सभी भागों में क्षात्र-धर्म का पालन किया जाता था जिसके अनुसार युद्ध में भाग न लेने वालों की पवित्रता का सर्वत्र सम्मान होता था। किन्तु इस नियम के उल्लंघन के भी एक-दो उदाहरण मिलते हैं जैसे दक्षिणी भारत में होत्तुर में प्राप्त सत्याश्रय के एक उत्कीर्ण लेख में अभियोग लगाया गया कि चोल सेना ने (१००७-८ ई०) 'देश को लूटा, स्त्रियों, बच्चों तथा ब्राह्मणों का संहार किया, कन्याओं से बलपूर्वक विवाह कर लिया और उनकी जाति को भ्रष्ट कर दिया।' यह एक निश्चित तथ्य है कि मेगेस्थनीज के समय से मुसलमानों के आक्रमण तक युद्धों में गाँवों की जनता की कभी लूट और संहार नहीं किया गया। गाँव वालों को डाकुओं तथा पशु चुराने वालों से ही भय रहता था। अराजकता ग्रस्त प्रदेशों को छोड़ कर शेष सभी जगह स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ समाज की रक्षा करती थीं, इन संस्थाओं की जड़ें इतनी गहरी थीं कि मध्ययुगीन राज्यों की असाध्य अस्थिरता भी उन्हें नहीं हिला सकती थी। इसलिये हिन्दू सभ्यता के जीवित रहने का रहस्य उसका सुदृढ़ सामाजिक ढाँचा है।

बहुधा यह कहा जाता है कि जाति-व्यवस्था की जटिलता हमारे पराभव का कारण सिद्ध हुई है। यद्यपि आधुनिक परिस्थितियों में इस व्यवस्था को किसी भी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता, फिर भी हमारे सांस्कृतिक अस्तित्व के शेष रहने का बहुत कुछ श्रेय उसी को है। दुर्ग हस्तगत कर लिये गये, राजधानियों का हस्तान्तरण हुआ, राज्यों का उदय तथा पतन हुआ, किन्तु हिन्दू समाज पर इसका लगभग कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसका मुख्य तत्व अपरिवर्तनशील रहा, इसका श्रेय दो संस्थाओं को है—जाति-व्यवस्था तथा ग्राम-समुदाय।

भारत मानों अगणित वृत्तों से आच्छादित था, उनमें से कुछ एककेन्द्रीय थे और कुछ एक दूसरे को काटते थे। ग्राम-समुदाय का वृत्त राज्य के बृहत्तर वृत्त के

६२९	मुहम्मद का मक्का को वापस लौटना, युवान-च्वांग का भारत के लिये प्रस्थान।
६३२	मुहम्मद की मृत्यु, आबू बक्र का प्रथम खलीफ़ा होना।
६३४	द्वितीय खलीफा उमर।
६३६	मुसलमानों की सीरिया विजय।
६३७	कदेसिया का युद्ध, ईरानी साम्राज्य का पतन।
६४२	चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु।
६४४	तीसरा खलीफा उथमन।
६४५	युवानच्वाग का भारत से लौटना।
६४७	कन्नौज के राजा हर्ष की मृत्यु।
६५६	मदीना में खलीफा उथमन का वध, चौथा खलीफा अली।
६६१	अली का वध; मुआविय प्रथम उमय्यद खलीफ़ा हुआ।
७११	मुसलमानों का स्पेन पर आक्रमण।
७१२	अरबों का सिन्ध पर आक्रमण।
७३२	चार्ल्स मार्टल मुसलमानों को फ्रान्स से खदेड़ देता है।
७४९-५०	दमिश्क में उमय्यद वंश का पतन, अबुल अब्बास प्रथम अब्बासी खलीफ़ा हुआ (शिया)।
७८६-८०९	हारून अल रशीद बग़दाद का महान् खलीफ़ा।

२

इस्लामी पताका क्षितिज पर

इस्लाम का उदय

पिछले पृष्ठों में हम भारत की राजनैतिक दुर्बलता का चित्र खींच चुके हैं, उसके विपरीत इस अध्याय में हम पश्चिम में एक महान् शक्ति के उदय का वर्णन करेंगे। यह शक्ति थी इस्लाम। इस सैनिक धर्म का प्रवर्तन सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में पैगम्बर मुहम्मद (५७०–६३२ ई०) ने अरब देश में किया था, किन्तु सौ वर्ष बीतने के पहले ही वह पश्चिम में एशिया माइनर, उत्तरी अफ्रीका, तथा आइबेरी प्रायद्वीप और पूर्व में अरब, ईरान, अफगानिस्तान और तुर्किस्तान में फैलने को था। भूमध्यसागर के पश्चिमी, दक्षिणी तथा पूर्वी तटों पर फैले हुए इस धर्म में इतनी गतिशील शक्ति विद्यमान थी कि पड़ोसी देशों पर उसका फैल जाना कुछ ही दिनों की बात रह गई थी। इसके बढ़ते हुए ज्वार को यूरोप में दो स्थानों पर रोक दिया गया; (१) ७३२ ई० में दक्षिणी फ्रान्स में टुअर्स के युद्ध में और (२) ७१७ ई० में बॉस्फोरस के तट पर कुस्तुन्तुनियाँ में। तथापि इसने अपने विजय अभियान से विजयन्तुन तथा सासानी—दो साम्राज्यों के भग्नावशेषों को घेर लिया और सामी, हामी, नीग्रो, आइबेरी, कॉकेसी, ईरानी और तूरानी जातियों पर अपना हरा आवरण फैला दिया। महान् इतिहासकार गिबन के शब्दों में "हिज्री सम्वत् की प्रथम शताब्दी (६२२–७२२ ई०) के अन्त में संसार में खलीफा (मुहम्मद के उत्तराधिकारी) सबसे अधिक शक्तिशाली और निरंकुश शासक थे।" यद्यपि उनका दैवी-साम्राज्य शीघ्र ही तीन दरबारों (दजला के तट पर बगदाद, नील के किनारे काहिरा और ग्वाडल-क्विवीर पर कर्दोवा) के बीच विभक्त हो गया तथापि मक्का उसका आध्यात्मिक केन्द्र और सतत् प्रेरणा का स्रोत बना रहा। अरब (सामी) तथा तुर्क; (तूरानी) इन दो जातियों ने इस विशाल आन्दोलन का रूप निर्धारित किया। पहली ने इसकी संस्कृति का निर्माण किया और दूसरी ने इसे शक्ति और

निर्दयता प्रदान की। कालान्तर में इसकी बहुजातीय जनता के अन्य तत्व भी इस्लामी सभ्यता पर अपनी छाप डालने लगे। मानवता की इस नई शक्ति की प्रकृति का परीक्षण हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ पर हम अपने को केवल उसके भारत की ओर बाह्य-प्रसार तक ही सीमित रक्खेंगे।

दमिश्क से लेकर बगदाद तक

हम पहले लिख आये हैं कि इस्लामी शक्ति के तीन केन्द्र थे—बगदाद, काहिरा तथा कर्दोवा। हमारे इतिहास के लिये इनमें से पहला ही प्रासंगिक है। बगदाद के खलीफा दमिश्क के खलीफाओं के उत्तराधिकारी थे। पैगम्बर मुहम्मद का ससुर अबूबक्र उनका (मुहम्मद का) उत्तराधिकारी हुआ, वह पहला खलीफा था। इस्लाम की अधिकतर विजयों का श्रेय उसके उत्तराधिकारी ख़लीफा उमर (६३४–४४ ई०) को था, सीरिया, मिश्र, ईरान आदि को उसीने जीता। जब खलीफाओं के साम्राज्य का विस्तार अधिक बढ़ गया तो मदीना को छोड़ कर दमिश्क को उन्होंने अपनी राजधानी बना लिया। उमर के उत्तराधिकारी उमय्यद कहलाये, उनकी अधीनता में लगभग सौ वर्ष तक दमिश्क ने इस्लामी जगत पर शासन किया। उमय्यद वंश के खलीफा वालिद प्रथम (७०५–१४ ई०) के राज्यकाल में अरबों का सिन्ध पर आक्रमण हुआ (७११ ई०)। उसी काल में इस्लाम की विजयपताका चीन की सीमाओं तक फहराने लगी। किन्तु शीघ्र ही दमिश्क की खिलाफत विलासिता तथा निरकुशता-जनित बुराइयों का शिकार बन गई। ७५० ई० में उनके प्रतिद्वन्दी अब्बासियों ने एक क्रान्ति कर दी। उमय्यद वंश के अन्तिम खलीफा को खदेड़ दिया गया और मिश्र में उसका वध कर दिया गया। इस क्रान्ति के विधाता अबुल अब्बास ने खलीफाओं के एक नये वंश की स्थापना की। एच० जी० वैल्स का कथन है कि अब्बास ने उमय्यद वंश के सभी पुरुष सदस्यों को जिनको वह पकड़वा सका, एक कारागार में डलवा दिया और उन सब की हत्या करवा दी, इस प्रकार उसने अपने शासन का श्रीगणेश किया। कहा जाता है कि उन सब के शवों का एक ढेर बना कर उस पर चमड़े का कालीन बिछा दिया गया और इस प्रकार बनी हुई वीभत्स मेज़ पर अब्बास तथा उसके सलाहकारों ने भोजन किया। इसके अतिरिक्त उमय्यद खलीफाओं की कब्रें खोद कर उनकी हड्डियाँ जला कर हवा में बखेर दी गईं। इसके उपरान्त अब्बासियों ने दमिश्क को छोड़ कर बगदाद को अपनी राजधानी बनाया (७६२ ई०)।

उपर्युक्त क्रान्ति का मुख्य कारण शिया तथा सुन्नियों का परम्परागत कलह थी। उमय्यद सुन्नी और अब्बासी शिया थे। चौथे खलीफा अली के समय में उत्तराधिकार के प्रश्न पर इन दो प्रतिद्वन्दी दलों में संघर्ष आरम्भ हो गया था। पहले तीन खलीफाओं ने अपना पद जनता की इच्छा से प्राप्त किया था। अली

पैगम्बर का दामाद था क्योंकि उसने मुहम्मद की पुत्री फातिमा से विवाह कर लिया था, इसलिये शियाओं ने उसको तथा उसके वंशधरों को ही वास्तविक खलीफा स्वीकार किया। सुन्नी लोग पहले तीन निर्वाचित खलीफाओं को भी मानते थे। सुन्नियों का झण्डा सफेद और शियाओं का काला होता है। बगदाद की अब्बासी खिलाफत अल-मंसूर (७५४–७५ ई०) तथा हारुन-अल-रशीद (७८६–८०९ ई०) के समय में अधिक प्रसिद्ध हो गई। हारुन-अल-रशीद अलिफ लैला की कहानियों के कारण भी अधिक विख्यात है। इन खलीफाओं की अधीनता में बगदाद विद्या, कला तथा विज्ञान का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया। किन्तु ११ वीं शताब्दी में सल्जूक तुर्कों ने उसे हस्तगत कर लिया और १३ वीं में मंगोलों ने उसका नाश कर दिया।

भारतीय क्षितिज पर

मुसलमान होने के शताब्दियों पहले से अरब लोग भारत तथा पश्चिमी जगत के बीच व्यापार करते आये थे। इसलिये उनके धर्म-परिवर्तन का भारत पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने पहला आक्रमण बम्बई के निकट पश्चिमी तट पर स्थित थाना पर ६३६–७ ई० में ही कर दिया था। किन्तु इसमें उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली थी। उनका दूसरा आक्रमण ६४४ ई० में स्थल मार्ग से मकरान में होकर पश्चिमी सिन्ध पर हुआ। यह आक्रमण खलीफा उथमन की आज्ञा से किया गया था और इसका मुख्य उद्देश्य सैनिक जाँच-पड़ताल करना था। इसके नेता हाकिम बिन जबाल अल-अब्दी ने रिपोर्ट भेजी कि "पानी का बहुत अभाव है, फल घटिया प्रकार के हैं और लुटेरे बड़े दुर्धर्ष हैं, यदि थोड़े सैनिक भेजे गये तो वे मारे जायँगे और यदि बड़ी सेना भेजी गई, तो वह भूख से मर जायगी।" ऐसा प्रतीत होता है कि इस हतोत्साह करने वाली पड़ताल के उपरान्त ७११ ई० तक अरबों ने भारत में प्रवेश करने का अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया।

अरबों का एक दल मालाबार तट से लौट रहा था और दमिश्क के खलीफा वालिद प्रथम तथा उसके सूबेदार बसरा के हज्जाज के लिये भेंट की सामग्री लिये जा रहा था। सिन्ध के मुहाने पर समुद्री डाकुओं ने उसे लूट लिया और अरबों को देबल (कराची) के बन्दरगाह में नजरबन्द कर लिया। सिन्ध के राजा से उन्हें लौटाने की माँग की गई, किन्तु राजा ने उसे टाल दिया। इसलिये हज्जाज ने तुरन्त ही उसे दण्ड देने के लिये एक आक्रमणकारी दल भेजा, किन्तु वह विफल रहा। उसके बाद ही एक दूसरा दल भी भेजा गया, किन्तु उसे भी अधिक सफलता नहीं मिली। अन्त में क्रोध से आग बबूला होकर इराक के सूबेदार ने ७११ ई० की शरद् ऋतु में अपने भतीजे तथा दामाद इमादुद्दीन मुहम्मद बिन कासिम को पहले से अधिक शक्तिशाली सेना देकर भेजा, जिसमें ६००० सीरियाई

घोड़े, उतने ही इराकी ऊँट और सामान ढोने के लिये ३००० बारवरी पशु सम्मिलित थे। इमादुद्दीन की अवस्था उस समय केवल सत्रह वर्ष की थी, किन्तु उसकी सफलताओं ने सिद्ध कर दिया कि वह एक प्रतिभाशाली सेनानायक था।

ब्राह्मणवाद का पतन

स्मरण रखने की बात है कि इस समय सिन्ध में छछ वंश का ब्राह्मण राजा राज्य करता था, इस वंश ने केवल एक पीढ़ी पहले राइ साहसी को अपदस्थ करके शक्ति प्राप्त की थी। जैसा कि हम अभी देखेंगे, इमादुद्दीन ने सिन्ध को बड़ी द्रुतिगति से विजय कर लिया, देश की आन्तरिक दुर्बलताओं को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था। जैसा कि छछनामा से विदित होता है, उस समय सिन्ध में राजा तथा प्रजा के बीच प्रेम-भाव का सर्वथा अभाव था। ब्राह्मण लोग केवल अपहरणकर्ता ही नहीं थे, बल्कि शासन भी अपहरणकर्ताओं की भाँति ही करते थे। प्रान्त की बहुसंख्यक जनता जाट नस्ल की थी और बौद्ध धर्म को मानती थी। इसलिये नस्ल तथा धर्म दोनों की दृष्टि से छछ वंश विदेशी था, परिस्थिति को और भी अधिक खराब करने वाली बात यह थी कि उसकी भावना भी विदेशी थी।

इस वंश का संस्थापक छछ साहसी का केवल एक मंत्री था। साहसी की मृत्यु के उपरान्त उसने सिंहासन पर अधिकार करके विधवा रानी से विवाह कर लिया, प्रजा ने स्पष्ट रूप से इस बात को नापसन्द किया। किन्तु ब्राह्मण साहसिकों ने अत्यन्त कठोरता से उस पर शासन किया। जाटों को अस्त्र-शस्त्र धारण करने, जीन कसे हुए घोड़ों पर चढ़ने तथा रेशमी वस्त्र पहिनने की आज्ञा नहीं थी, इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य अपमान भी सहने पड़ते थे। उन्हें सदैव नंगे सिर तथा नंगे पैर चलना पड़ता था और अपनी उपस्थिति प्रकट करने के लिये साथ कुत्ते रखने पड़ते थे। छछ ने शीघ्र ही अपने को निकटवर्ती प्रदेश का स्वामी बना लिया। छोटे-छोटे राजा तथा सामन्तों का दमन कर दिया गया। उसने काश्मीर के एक राजकुमार के साथ अपनी पुत्री का विवाह करके स्थापित राजवंशों के साथ सम्बन्ध जोड़ने का भी प्रयत्न किया।

छछ का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई चन्द्र हुआ और चन्द्र के बाद छछ का पुत्र दाहिर सिंहासन पर बैठा। अरब आक्रमण के समय वही सिन्ध पर शासन कर रहा था। छछ वंश की आन्तरिक गृह-कलह के कारण प्रजा का असन्तोष और भी अधिक बढ़ गया। जिस समय दाहिर ने अरबों की उचित शिकायत के सम्बन्ध में नीति-चातुर्य से काम न लेकर संकट मोल ले लिया, उस समय अभागे सिन्ध की यह दुर्दशा थी। इसके अतिरिक्त आक्रमणकारियों को अरबों के एक सैनिक दल से भी सहायता मिली जो पहले से ही दाहिर के

यहाँ नौकर था किन्तु जिसने इस अवसर पर अपने सहधर्मियों के विरुद्ध लड़ने से इन्कार कर दिया था। इसके विपरीत दाहिर के देशवासी, असन्तुष्ट जाट, अपने अत्याचारी राजा को उखाड़ फेंकने के लिये शत्रु से जा मिले।

विजय सम्बन्धी ब्यौरे के विषय में हम अधिक समय नहीं नष्ट करेंगे। सर्व-प्रथम देवल के बन्दरगाह पर आक्रमण हुआ। इमादुद्दीन मुहम्मद को मकरान के सूबेदार मुहम्मद हारून से कुमुक प्राप्त हो गई, हारून अपने साथ पाँच पत्थर फेंकने की मशीनें लेकर आया, जो उस युग में तोपों का काम देती थीं। देवल के मन्दिर दुर्ग का शीघ्र ही पतन हो गया और उसका झंडा गिरा दिया गया। इमादुद्दीन को लूट के सामान में "७०० सुन्दर स्त्रियाँ भी मिलीं जो बुद्ध के संरक्षण में रह रही थीं।" सत्रह वर्ष से अधिक की पुरुष जनता को जिसने खतना करवाना स्वीकार नहीं किया, तलवार के घाट उतार दिया गया; शेष सभी लोग दास बना लिये गये। ध्वस्त मन्दिर के स्थान पर एक मस्जिद खड़ी हो गई।

चचनामा से विदित होता है कि इमादुद्दीन ने अपने चाचा को जो पहला पत्र भेजा उसमें उसने लिखा, "राजा दाहिर का भतीजा, उसके योद्धा तथा प्रमुख पदाधिकारी दोजख भेज दिये गये हैं और काफिरों को या तो मुसलमान बना लिया गया है या नष्ट कर दिया गया है। मूर्ति-मन्दिरों के स्थानों पर मस्जिदें तथा अन्य पूजा-गृह खड़े कर दिये गये हैं। खुतबा पढ़ा जाता है, अजाँ लगाई जाती है जिससे निश्चित समयों पर पूजा-पाठ होता है। प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सन्ध्या को सर्वशक्तिमान ईश्वर का गुणगान किया जाता है।"

इस पत्र के उत्तर में हज्जाज ने लिखा' "ईश्वर की आज्ञा है कि काफिरों को शरण मत दो, बल्कि उनके शीश काट लो। इसलिये तुम जानो कि यह ईश्वर की आज्ञा है। लोगों को सुरक्षा प्रदान करने में अधिक तत्परता मत दिखलाओ, नहीं तो तुम्हारा काम बहुत लम्बा हो जायगा। अब उच्च पदों के लोगों को छोड़ कर अन्य किसी शत्रु को शरण मत दो।"

इसके उपरान्त निरून तथा सेहवान के बौद्ध श्रमणों को अरबों का प्रहार झेलना पड़ा, किन्तु उन्होंने कातरतापूर्वक आत्म-समर्पण कर दिया, इसलिये नष्ट होने से बच गये। अपने अन्तःकरण का सहारा लेकर श्रमणों ने इन दुरक्षित नगरों को शत्रु के सुपुर्द करवा दिया। सम्भवतः उनका तर्क था कि "हम भिक्षुगण हैं, हमारा धर्म शान्ति है। हमारे धर्म के अनुसार युद्ध तथा नर-संहार वर्जित है।" इसीलिये उन्होंने आत्म-समर्पण करने की सलाह दी।

इस प्रकार आक्रमणकारियों का काम सरल हो गया, अब वे रावार तथा ब्राह्मणवाद की ओर मुड़े; वहाँ पर उनका विकट प्रतिरोध किया गया। किन्तु रावार में एक विपत्ति टूट पड़ी जैसा कि भारतीय युद्धों में बहुधा हुआ करता था। दाहिर हाथी पर सवार था; हाथी ने उसको उसकी इच्छा के विरुद्ध सिन्ध नदी में ले जाकर डाल दिया। यद्यपि राजा ने अपने को बचा लिया और घोड़े पर सवार

होकर युद्ध करता रहा किन्तु सेना ने समझा कि हमारा नेता मारा जा चुका है इसलिये वह भयभीत हो गई। ब्राह्मणवाद में दाहिर के पुत्र जयसिंह ने वीरता पूर्वक दुर्ग की रक्षा की, किन्तु एक सिन्धी सेनानायक के विश्वासघात के कारण युद्ध शीघ्र ही समाप्त होगया। इसके उपरान्त अरोर, मुल्तान तथा अन्य स्थानों को विजय कर लिया गया (७१३ ई०)।

इस दुःखद कथानक का एक उज्ज्वल पक्ष भी था। रानीबाई के नेतृत्व में स्त्रियों ने डट कर शत्रु से लोहा लिया, किन्तु उनके प्रयत्न निष्फल रहे। अपने पतियों के वीरगति को प्राप्त होने पर उन्होंने वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया और अन्त में राजपूत परिपाटी के अनुसार सहस्रों की संख्या में उन्होंने जौहर कर लिया। कहा जाता है कि इमादुद्दीन ने हज्जाज के द्वारा खलीफा के पास जो पहले सर्वोत्तम उपहार भेजे उनमें राजा दाहिर की दो सुन्दर पुत्रियाँ भी सम्मिलित थीं। उन्हें देखकर हज्जाज (अथवा खलीफा) आनन्द विभोर हो गया किन्तु उन्होंने उससे कहा कि इमाद ने हमें पहले ही भ्रष्ट कर दिया है, इस पर कुपित होकर उसने इमाद को मृत्यु-दण्ड दे दिया। इस प्रकार दाहिर की पुत्रियों ने इमाद से प्रतिशोध लिया। इस तरुण अरब सेनापति के कृतघ्नतापूर्ण वध के कुछ भी कारण रहे हों, यह सत्य है कि उसका अन्त बहुत दुःखद हुआ। हमारे लिये इससे भी अधिक दिलचस्प यह जानना है कि भारत में इस्लाम की इस प्रथम विजय से सिन्ध की क्या दशा हुई और भावी इतिहास पर उसका क्या प्रभाव पड़ा।

अरब आक्रमण के राजनैतिक पहलू

दिल्ली साम्राज्य में सम्मिलित किये जाने तक सिन्ध सदैव मुसलमानों के ही आधिपत्य में रहा, फिर भी बारम्बार इतिहासकारों ने यही मत प्रकट किया है कि अरब विजय का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। राजस्थान के इतिहास के विख्यात रचयिता टॉड ने अरब विजय के प्रभाव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया था, किन्तु 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' ने लेनपूल का अनुगमन करते हुए उनके मत का निम्नाङ्कित शब्दों में ज़ोरदार खण्डन किया है :—

"अरबों की सिन्ध विजय के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ कहने को नहीं है। भारत के इतिहास में यह एक गौण तथा महत्त्वहीन घटना थी और इस विशाल देश के एक कोने पर ही उसका प्रभाव पड़ा। इसने एक सीमान्त प्रदेश में उस धर्म का सूत्रपात किया, जिसने आगे चल कर लगभग पाँच शताब्दियों तक भारत के अधिकांश पर अपना प्रभुत्व स्थापित रक्खा, किन्तु इसके वे दूरगामी प्रभाव नहीं पड़े जिनका टॉड ने 'एनल्स ऑव राजस्थान' में उल्लेख किया है। मुहम्मद बिन कासिम राजपूताना के हृदय में स्थित चित्तौड़ तक कभी नहीं पहुँच सका, खलीफा वालिद प्रथम गंगा के इस ओर वाले उस समस्त भूभाग को अपना करद नहीं बना सका, आक्रमणकारी

कन्नौज के राजा हरिश्चन्द्र से युद्ध करने के लिये कभी तत्पर भी नहीं हुआ, उसके वास्तव में युद्ध करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। और न टॉड महोदय का यह कहना ही सत्य है कि अरब आक्रमण से समस्त उत्तरी भारत दहल गया था। जैसा कि हम पहले कह आये हैं एक अरब आक्रमणकारी कच्छ में स्थित अघोई तक पहुँच गया था, किन्तु वहाँ कोई उपनिवेश नहीं बसाया गया, आक्रमण केवल धावामात्र था, और यह हो सकता है कि इस विस्फोट का प्रथम समाचार सुन कर राजस्थान के राजाओं ने युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ करदी हों, किन्तु उनकी बेचैनी अधिक नहीं टिकी होगी। इस्लामी ज्वार सिन्ध तथा निचले पञ्जाब को आप्लावित करके पीछे लौट गया और पीछे केवल कुछ चिन्ह छोड़ गया। रेगिस्तान के दूसरी पार स्थित राज्यों के शासकों को आतङ्कित होने का कोई कारण नहीं था। उन पर तो संकट बाद में आया और उनके शत्रु अरब नहीं बल्कि तुर्क थे, और अपने साथ वे अरब पैगम्बर के धर्म को उससे अधिक भयावह रूप में लाये जिसमें उसे स्वयं अरबों ने प्रस्तुत किया था।"

यहाँ पर हम सर वोल्ज़्ले हेग द्वारा प्रतिपादित मत के मूल तत्व का विरोध नहीं करते और न टॉड के दृष्टिकोण का ही समर्थन करते हैं, हमारे लिये तो यह आवश्यक है कि हम अरब विजय के व्यापक तथा भावात्मक पक्ष का मूल्याङ्कन करें। यहाँ पर हमें केवल उसी पर विचार करना है जो इमादुद्दीन तथा उसके उत्तराधिकारियों ने वास्तव में किया, न कि उस पर जो दुधर्ष इमाद ने किया होता, यदि उसका दुःखद अन्त न होता।

इमाद के सहसा कार्य-क्षेत्र से हट जाने से एक ऐसे जीवन का अन्त हो गया जिसने भारत में इस्लाम के लिये होनहार कार्य आरम्भ किया था। खलीफा वालिद प्रथम की भी जिसके समय में यह घटना घटी, ७१५ ई० में मृत्यु हो गई। उसके पुत्र उमर द्वितीय के समय में (७१७ ई०) दाहिर के पुत्र जयसिंह ने जिसने पाँच वर्ष पूर्व अरबों के विरुद्ध वीरता से युद्ध किया था, इस्लाम अंगीकार कर लिया। किन्तु धर्म-परिवर्तन भी उसकी रक्षा न कर सका। खलीफा हिशाम (७२४-४३ ई०) के समय में सिन्ध के सूबेदार जुनैद ने उसके राज्य पर आक्रमण करके उसे मार डाला। इसी के बाद दमिश्क में अब्बासी क्रान्ति हुई (७५० ई०) और बगदाद में नई खिलाफत का निर्माण हुआ। सिन्ध भी इस क्रान्ति के प्रभावों से न बच सका। परवर्ती उमय्यदों के शासन काल में खलीफाओं का नियन्त्रण पहले से ही ढीला पड़ गया था। सिन्ध के सूबेदार तथा सामन्त दिन प्रति दिन विद्रोही होते गये ८७१ ई० तक सिन्ध में खलीफाओं की सत्ता लगभग समाप्त हो गई और अन्त में अरब सामन्तों ने दो स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली; एक मंसूरा अथवा ऊपरी सिन्ध में अरोर तक, और दूसरा उस प्रदेश में जिसमें आधुनिक मुलतान सम्मिलित है। दसवीं शताब्दी में जब महमूद गजनवी ने आक्रमण किये, उस समय इन अरब सामन्तों के उत्तराधिकारियों ने उससे कहा कि हम खलीफा के अधीन हैं; किन्तु यह उनकी एक कूटनीतिक चाल मात्र थी।

अरबों की प्रशासन-व्यवस्था

सिन्ध में अरब प्रशासन-व्यवस्था जैसी किसी चीज के स्थापित करने के लिये तीन वर्ष का समय (७११ १३ ई०) बहुत कम था। वे वर्ष निरन्तर युद्ध का काल थे। फिर भी नष्ट हुई पुरानी प्रशासन प्रणाली के स्थान पर इमादुद्दीन ने एक भद्दा-भौंडी व्यवस्था खडी कर दी, विजय का फल भोगने के लिये वह एक आवश्यक साधन भी थी। यह स्मरण रखना चाहिये कि वह अपने साथ १५००० आदमी लाया था और २००० के लगभग उसे कुमुक के रूप में मिल गये होंगे। तीन वर्ष के अन्त में युद्ध तथा बीमारी से मरे हुए लोगों को छोड़ कर सैनिकों तथा पिछलगों को मिलाकर भी कदाचित आधे से अधिक आदमी शेष नहीं रहे होंगे। इसके अतिरिक्त वे अपने साथ स्त्रियाँ नहीं लाये थे और लाये भी होंगे तो पर्याप्त सख्या में नहीं। इसलिये इमादुद्दीन ने जो भी व्यवस्था स्थापित की उसका रूप एक समझौते जैसा होना अनिवार्य था।

देवल में प्रथम विजय के उत्साह में उसने वैसा ही आचरण किया जैसा कि एक मुस्लिम विजेता को काफिरों के देश में करना विहित है। इस सम्बन्ध में इस्लाम का विधान स्पष्ट था। सच्चे धर्म (इस्लाम) के अनुयायियों को छोड़ कर अन्य सबको दो वर्गों में विभक्त किया गया था। पहले वे जो ईश्वरीय ज्ञान से साझीदार समझे जाते थे, जैसे यहूदी और ईसाई, और दूसरे वे जो असह्य काफिर और मूर्तिपूजक थे। पहली काटि के लोगों को जिजया देने पर अपने धर्म का पालन करने की आज्ञा मिल सकती था। किन्तु दूसरों के लिये एक ही मार्ग था—मृत्यु अथवा इस्लाम। हज्जाज—जिसकी आज्ञाओं के आधीन इमादुद्दीन कार्य कर रहा था, बहुत ही कठोर और धर्मान्ध था और किसी प्रकार का समझौता करने के लिये उद्यत नहीं था। ऐसी परिस्थिति में समझौते की कोई गुन्जाइश न होना स्वाभाविक ही था। इसलिये पूव-परिपाटी के अनुसार देवल में भी विजित लोगों से इस्लाम अंगीकार करने को कहा गया और जैसा कि फरिश्ता लिखता है, उनके इनकार करने पर सत्रह वर्ष से अधिक अवस्था के सभी पुरुषों को तलवार के घाट उतार दिया गया; और जो बच रहे उन्हें दास बना लिया गया। स्त्रियों तथा कोष जो विजेताओं के हाथ लगे, वे हड़प लिये गये। इस्लामी परिपाटी के अनुसार यह आवश्यक था कि उन्हे मुसलमानों में बाँट दिया जाता। पाँचवाँ भाग हज्जाज के द्वारा खलीफा के पास भेज दिया गया और शेष को सैनिकों में बाँट दिया गया। सेनापति के पास जो सीमित सेना थी उसमें से उसे ४००० सैनिक देवल पर अधिकार रखने के लिये छोड़ने पड़े और शेष को लेकर उसने शत्रु के देश में युद्ध जारी रक्खा। यहाँ पर ऐसे देशवासी भी थे जो आक्रमणकारी को सहायता देने के लिये उद्यत थे, किन्तु यह आशा नहीं की जा सकती थी कि बलपूर्वक मुसलमान बनाये जाने पर भी वे उसकी सेवा करेंगे। इन विचित्र परिस्थितियों में इमादुद्दीन की व्यवहार-बुद्धि की विजय हुई। अन्त

में काफिरों के साथ भी आंशिक रूप से सहिष्णुता का व्यवहार करना पड़ा। जो अधिकार जिम्मियों (यहूदियों तथा ईसाइयों) को मिले हुए थे वे सिन्ध के हिन्दुओं तथा बौद्धों को भी दे दिये गये। अन्यत्र भी जरथुस्त्र के अनुयायियों तथा मागी लोगों को इसी प्रकार की रियायतें दी गई थी, और सिन्ध की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस नीति का अपनाया जाना उचित ही था। इसलिये सर विलियम म्योर का मत है कि सिन्ध-विजय ने इस्लामी नीति में एक नये युग का आरम्भ किया।

कुछ समय तक युद्ध-बन्दियों को दास बनाने तथा ध्वस्त मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें खड़ी करने की नीति बरती गई। तदुपरान्त विजेता ने अनुभव किया कि सिन्ध पर स्थायी अधिकार रखने की दृष्टि से समझौता तथा प्रसन्न करने की नीति अधिक लाभदायक है। काफिरों के लिये सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार की नौकरियों के द्वार खोल दिये गये, उनकी स्त्रियों से विवाह कर लिया गया, कुछ देशी सामन्तों को मुसलमान होने की शर्त के बिना ही उनकी भूमि लौटा दी गई, मूर्तिपूजा की ओर भी ध्यान नहीं दिया गया, यहाँ तक कि कुछ चतुर्भुजी मूर्तियों को जो विजेताओं के अधिकार में आगई थीं तोड़ा नहीं गया, बल्कि विचित्र वस्तुओं के रूप में उन्हें भी भेंट की अन्य सामग्री के साथ हज्जाज के पास भेज दिया गया। राजस्व-व्यवस्था के संगठन के सम्बन्ध में इमादुद्दीन ने विशेष रूप से यह अनुभव किया कि हिन्दुओं की सेवाओं के बिना काम चलना असम्भव है। नई नीति की इन शब्दों में घोषणा की गई : "जिज़या तथा अन्य करों के अदा करने पर हिन्दुओं के मन्दिर भी उसी प्रकार अनुलंघनीय होंगे जिस प्रकार ईसाइयों के गिर्जाघर, यहूदियों के सिनद और मागियों की वेदियाँ।"

सर वोल्ज़ले हेग हज्जाज के विषय में लिखते हैं कि वह 'कट्टर अत्याचारी' था और इस्लामी नियमों की उस ढीली व्याख्या से परिचित नहीं था जिसके अनुसार जिज़या अदा कर देने पर मूर्ति-पूजा सहन की जा सकती। किन्तु यदि चुचनामा का विश्वास किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसे भी इस विषय में कुछ झुकना पड़ा था। ब्राह्मणावाद के निवासियों ने सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार के लिये जो प्रार्थना की उसके सम्बन्ध में इमादुद्दीन ने हज्जाज को लिखा। हज्जाज ने उसके उत्तर में कहा "चूँकि उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया है और खलीफा को कर देना स्वीकार कर लिया है इसलिये अब उनसे इससे अधिक कुछ माँगना उचित नहीं है। वे हमारे संरक्षण में आ गये हैं, इसलिये हम किसी प्रकार से उनके जीवन अथवा सम्पत्ति पर हाथ नहीं डाल सकते। उन्हें अपने देवताओं की पूजा करने की आज्ञा दी जाती है। किसी को अपने धर्म का पालन करने से रोका अथवा मना न किया जाय। वे अपने घरों में जिस प्रकार चाहें रहें।" इस उत्तर ने इमादुद्दीन के लिये यह घोषणा करने का मार्ग खोल दिया, "सुलतान तथा जनता के बीच ईमानदारी का व्यवहार करो और यदि वितरण का प्रश्न उठे तो

उसे न्यायपूर्वक करो और अदा करने की योग्यता को ध्यान में रखते हुए राजस्व निर्धारित करो। परस्पर मेल से रहो और एक दूसरे का विरोध मत करो, जिससे देश को दुःखी न होना पड़े।"

लूट का धन जो विजेता के हाथ लगा वह किसी दृष्टि से कम नहीं था। इस देश में धन गाड़ कर रखने, बहुमूल्य आभूषण पहिनने तथा मन्दिरों को खुले हाथों सोना तथा चाँदी दान देने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आई थी, यही कारण था कि सिन्ध में वृहद् धन-कोष प्राप्त हुआ। छछनामा में उल्लेख आता है कि एक मन्दिर में १३०० मन सोना मिला था। इसमें से कुछ खलीफा के पास भेज दिया गया था और कुछ बाँट दिया गया था। एक बार लूट की सम्पत्ति के मुआवजे के रूप में जनता के प्रत्येक सदस्य को १२ चाँदी के दिरहाम बाँट दिये गये थे। फिर भी कर काफी भारी था, और विशेषकर काफिरों के ऊपर। कहा जाता है कि सिन्ध तथा मुलतान दोनों से मिलाकर ११,२००,००० दिरहाम (२७०,००० पौं०) की आय होती थी।

पहला कर जिज़या था जिसकी तीन दरें थीं—(१) ४८ दिरहाम, (२) २४ दिरहाम और (३) १२ दिरहाम। स्पष्ट है कि यह भेद लोगों की सामाजिक स्थिति तथा दे सकने की योग्यता के आधार पर रक्खा गया। स्त्रियाँ, बच्चे तथा काम न कर सकने योग्य व्यक्ति जिज़या से मुक्त थे। दूसरा कर खिराज (भूमिकर) था, वह भी उपज के आधार पर लगाया जाता था (१) सार्वजनिक नहरों द्वारा सींची गई भूमि के गेहूँ तथा जौ का २/५ तथा (२) अन्य खेतों से १/४। अंगूर, खजूर आदि बागों की उपज का १/३ तथा मछली, शराब और मोतियों का १/५ राज्य कर के रूप में वसूल किया जाता था। सैनिकों को माफी की भूमि मिली हुई थी, किन्तु उन्हें सैनिक सेवा करनी तथा धार्मिक दान (सादगह) देने पड़ते थे। कठिन परिस्थितियों में इन सभी करों में वृद्धि हो सकती थी। जैसा कि ईलियट ने लिखा है "विलासिता की वृद्धि के साथ साथ सरदार तथा उसके नौकरों की आवश्यकताएँ भी बढ़ती गई और उनका उत्साह क्षीण होता गया, परिणामस्वरूप अधिक व्यक्तियों को नौकर रखना तथा उन्हें और भी अधिक ऊँचे वेतन देना आवश्यक हो गया। फल यह हुआ कि धीरे-धीरे करों में इतनी वृद्धि हो गई कि सम्पत्ति के स्वामी तथा कमकर लोग उन्हें अदा करने में असमर्थ हो गये और इस कारण सरकार में बारम्बार परिवर्त्तन होने लगे।"

अरब विजेताओं ने देशवासियों के साथ कुछ वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि स्पार्टा वालों ने मसोनी लोगों के साथ किया था। उन्होंने अपने को लगभग पूर्णतया युद्ध-कला में ही लिप्त रक्खा, और दास लोग उनके लिये खेतों में काम किया करते थे। बल्कि इससे भी बुरी स्थिति थी, आगे चल कर जब अरब लोग व्यापार में अधिक ध्यान देने लगे और पहले से भी अधिक विलासी हो गये, उस समय भी वे अपमान जो जाटों को छछ राजाओं के हाथों भुगतने पड़ते थे, पूर्ववत्

जारी रहे, जैसे घोड़े पर चढ़ने, रेशम, शिरोवस्त्र तथा जूते पहनने का निषेध, अपने साथ कुत्ते ले चलने के लिये बाध्य होना, इत्यादि। इस प्रकार जहाँ तक साधारण जनता का सम्बन्ध था अरब विजय का यह परिणाम हुआ कि एक प्रकार के दमन का स्थान दूसरे प्रकार के दमन ने ले लिया। जिन लोगों ने धर्म-परिवर्तन कर लिया था उनके लिये कदाचित् इस परिवर्तन के परिणाम अच्छे हुए, किन्तु शेष लोगों के लिये बुरे।

अरबों की विफलता के कारण

अन्तिम रूप से विश्लेषण करने पर हमें कहना पड़ेगा कि भारत में अरबों का आक्रमण विफल रहा। इस दृष्टि से नहीं कि उन्हें कुछ सफलता नहीं मिली, बल्कि इसलिये कि उसका परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। स्पष्टतया हमारा तात्पर्य राजनैतिक परिणामों से है। लेनपूल के निर्णय को हमें इसी ओर केवल इसी अर्थ में समझना चाहिए। वास्तव में अरब विजय "भारत तथा इस्लाम के इतिहास में एक गौण तथा महत्त्वहीन घटना थी, एक ऐसी विजय जिसका कोई फल नहीं हुआ।" कहने का तात्पर्य यह है कि इस्लाम की स्थायी विजय के लिये नये सिरे से प्रयत्न करने पड़े, ये प्रयत्न अन्य दिशा के ओर अन्य जाति ने किये—अरबों ने नहीं, तुर्कों ने। जिन अरबों ने सिन्ध की विजय से पूर्व सीरिया, मैसोपोटामियाँ, मिश्र, कार्थेज, स्पेन, पुर्तगाल, तुर्किस्तान ईरान तथा अफगानिस्तान को जीत लिया था, उन्हीं को भारत की देहली पर आकर अपने कदम रोक देने पड़े। क्यों? इसके कारण वास्तव में समीक्षा के योग्य हैं। भारत की दृष्टि में भी यह घटना महत्त्वहीन तथा निष्फल थी, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्ध के अनुभव के बावजूद भारत सतर्क नहीं हुआ। तीन शताब्दियों बाद जब मूर्ति-भंजक (महमूद गजनवी) ने उसके देवताओं को गदा प्रहारों से चूर्ण किया, उस समय भी वह उतना ही असावधान और अपने में व्यस्त था जितना कि उस समय सिन्ध था, जब वहाँ हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिरों के भग्नावशेषों पर प्रथम बार मुस्लिम मस्जिदें खड़ी की गई थीं।

किन्तु सिन्ध में अरबों का कार्य उतना अलग तथा अकेला नहीं था जितना कि उसे सामान्यतया समझ लिया गया है। अरब इतिहासकारों ने किकनान तथा ओरोसपुर आदि स्थानों का उल्लेख किया है, उनकी पहिचान के सम्बन्ध में विद्वानों में विवाद हो सकता है। फिर भी नीचे के उल्लेख उपेक्षणीय नहीं हैं —जैसा कि सर वोल्जले हेग भी मानते हैं आठवीं शताब्दी में अरबों ने कच्छ पर आक्रमण किया था, यद्यपि उनका उद्देश्य उसे अपने राज्य में मिलाना अथवा वहाँ उपनिवेश बसाना नहीं था। 'दी कैम्ब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑव इण्डिया' में कहा गया है कि "अधिकतर सिन्ध के अरब सूबेदारों ने गुजरात में स्थित वलभी के मैत्रकों तथा उनके उत्तराधिकारी चावडा और चालुक्यों के साथ मित्रतापूर्ण

सम्बन्ध स्थापित रक्खे।" (पृ० ८५)। उसी ग्रन्थ में अन्यत्र (पृ० १०३) लिखा है कि "लाट चालुक्य पुलकेशिन के अभिलेख में कहा गया है कि उसने एक अरब सेना को जो उसके राज्य में पहुँच गई थी, परास्त किया था, और गुर्जर शक्ति के संस्थापक नागभट्ट ने भी एक मलेच्छ आक्रमणकारी को पीछे खदेड़ देने का उल्लेख किया है, कदाचित यह आक्रमणकारी जुनै था जिसकी हम पहले चर्चा कर चुके हैं। गुर्जर लोगों ने वास्तव में अरबों ह प्रगति को रोकने के लिये एक बाँध का काम किया और यही कारण था कि अरब ने गुर्जरों के प्रतिद्वन्दी मान्यखेत के राष्ट्रकूट वश से मैत्री-सम्बन्ध स्थापि किया।" अरबों के इन विस्तृत सम्पर्कों का साक्ष्य हमें उत्कीर्ण लेखों तथा नव और दसवीं शताब्दी के अरब पर्यटकों के लेखों से मिलता है। अलमसू (९१२-१६ ई०) के लेख से मिहिर भोज तथा उसके उत्तराधिकारी महिपा (८४०-९४० ई०) के शासन काल में गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति तथा प्रतिष् का प्रमाण मिलता है, वह चौल में स्थित २०,००० मुसलमानों के एक उपनिवे का भी उल्लेख करता है। सुलैमान ने (८५१ ई०) अमोघवर्ष (८१४-७८ ई० की जिसे वह बल्हार कहता है, संसार के चार महानतम शासकों में गिनती ह है, अन्य तीन शासक बगदाद का खलीफा, चीन तथा रूम (कुस्तुन्तुनियाँ के सम्राट थे। वह आगे लिखता है कि "राजाओं में ऐसा कोई नहीं है जो अरब से इतना प्रेम करता हो जितना कि बल्हार और उसकी प्रजा उसको अनुकर करती है।" गुर्जर वश के नागभट्ट द्वितीय (८००-२५ ई० लगभग) ह विजयों में तुरुष्कों (अरबों) के विरुद्ध एक विजय का भी उल्लेख है; अ ७३८ ई० के नौसरी दानपत्रों ने गुजरात के लाट चालुक्य पुलकेशिन की विज का जिसके विषय में हम पहले लिख आये है, जिक्र है, यद्यपि अरब इतिहासक बलाधुरी का दावा है कि आक्रमणकारियों ने जुर्ज (गुजरात) और बरु (भड़ौंच) को जीत लिया था किन्तु उजैन (उज्जैन) और मालिबा (मालवा में उन्हें सफलता नहीं मिली थी। वोल्जले हेग के मतानुसार "पूर्व की ओ अरबों की बाढ़ को रोकने वाली शक्ति थी राजपूताना और मालवा का अवनि राजवंश जिसके वशजों ने आगे चलकर उत्तरी भारत के इतिहास में महत्वपू भाग लिया।" इनके साथ हम मुस्लिम परम्परा के उस साक्ष्य को भी जोड़ जिसके अनुसार मालाबार तट पर मुस्लिम उपनिवेशों का होना बताया जात है और जिनका हम पिछले अध्याय में उल्लेख कर आये हैं। जैनुद्दीन का कथ है कि पैग़म्बर के जीवनकाल में ही चेरमान के पेरुमाल ने इस्लाम अंगीकार क लिया था, इस कथन की पुष्टि नहीं हुई है। इसे छोड़ कर यहाँ हम दक्षिण भार के नवाइत; माप्ला और लब्बाई लोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक विश्वसनी परम्परा का जिक्र करेंगे थुर्स्टन ने 'कॉस्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑव सदर्न इण्डिया' नाम अपनी पुस्तक में लिखा है कि दक्षिणी भारत के इन मुसलमानों के पूर्वज वे ईराक शरणार्थी थे जिन्हें हज्जाज ने आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निर्वासित कर दि..

था। किन्तु शायद इससे भी अधिक विश्वसनीय साक्ष्य आलीइब्न उद्योमान नामक व्यक्ति की कब्र है जिस पर हिज्री सम्वत १६६ (७८८ ई०) का स्मृति लेख खुदा हुआ है, श्री इन्स ने 'मालाबार गजेटियर' में इसका उल्लेख किया है। नेलसन के मतानुसार मुसलमान लोग सबसे पहले (१०५० ई०) मदुरा में आकर बसे थे। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि १० वीं और ११ वीं शताब्दियों में जब तुर्कों के आक्रमण हुए, उससे पहले ही देश के विभिन्न भागों में भारतीय अनेक भाँति से अरबों के सम्पर्क में आ चुके थे। इसलिये यह नहीं हो सकता कि इमादुद्दीन मुहम्मद बिन कासिम तथा महमूद गजनवी के बीच के युग में सिन्ध में जो घटनाएँ घटीं उनसे वे अनभिज्ञ रहे होंगे। इतना होने पर भी यदि भारतीय नरेशों ने अरबों को प्रोत्साहन दिया, तो इसका या तो राजनैतिक कारण था, जैसा कि राष्ट्रकूटों के सम्बन्ध में, अथवा उन्होंने व्यापारिक लाभों के लिये ऐसा किया। उदाहरण के लिये वसाफ के कथनानुसार केवल फारस से भारत में प्रतिवर्ष १०,००० अरबी घोड़े आते थे। उनका मूल्य २,२००,००० दीनार होता था। जैसा कि श्री टाइटस 'इण्डियन इस्लाम' नामक अपनी पुस्तक में लिखते हैं, "अरब व्यापारियों को हिन्दू राजाओं का संरक्षण प्राप्त था, क्योंकि उनके राज्यों को इस प्रकार स्थापित व्यापारिक सम्बन्धों से बहुत लाभ होता था, इसी का परिणाम था कि अरबों के भारतीयों को मुसलमान बनाने के मार्ग में बाधाएँ नहीं डाली जाती थीं। वास्तव में भारतीय मुसलमानों के साथ भी वैसा ही सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाता था जैसा कि विदेशियों के साथ चाहे वे समाज के निम्नतम वर्गों में से ही क्यों न आये हों।" हिन्दू राजा मुसलमानों के साथ जैसा व्यवहार करते थे उसकी पुष्टि के लिये दो उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं। ग्यारवीं शताब्दी में इद्रीसी ने लिखा था कि जो अरब व्यापारी बड़ी संख्या में अन्हिलवाड़ जाते हैं "उनका राजा तथा उसके मन्त्री सम्मानपूर्वक स्वागत करते हैं और उन्हें समाज में संरक्षण मिलता है।" मुहम्मद ऊफी लिखता है कि जब खम्भात के मुसलमानों पर हिन्दुओं ने आक्रमण किया, तो सिद्धराज (१०९४-११४३) ने अपने ही अपराधी प्रजाजनों को दण्ड दिया और मुआवजे के रूप में मुसलमानों को एक मस्जिद बनाने के लिये आर्थिक सहायता दी। इसीलिये तो यह और भी अधिक आश्चर्य की बात है कि इन अनुकूल परिस्थितियों के होने पर भी अरबों को सफलता नहीं मिली।

अरब-शासन के अस्थाई होने के एल्फिस्टन ने तीन कारण बतलाये हैं, (१) अरबों का सुमेर राजपूतों द्वारा निकाल बाहर किया जाना, (२) भारत में एक ऐसे पुरोहित वर्ग का अस्तित्व जिसका शासन से घनिष्ठ सम्बन्ध था और जिसके लिये देशवासियों में गहरी श्रद्धा थी, और एक ऐसा धर्म जो जनता के कानूनों तथा आचरण से गुथा हुआ था और जिसका उनके विचारों पर अडिग प्रभाव था, (३) हिन्दुओं की फूट भी उनके पक्ष में थी, एक राजा के पराभव से उसके बाद आने वाले शासक का केवल एक प्रतिद्वन्दी हट जाता था और

आक्रमणवादी सेना की संख्या घटती जाती थी और अपने साधनों से वह बहुत दूर हो जाती थी, किन्तु यह एक ऐसा प्रहार नहीं कर सकती थी कि उसका कार्य पूरा हो जाता। लेनपूल के शब्दों में "अरबों की विफलता का इससे भी अधिक स्पष्ट कारण यह था कि (४) पूर्व तथा उत्तर में राजपूत राजाओं की शक्ति अभी टूटी नहीं थी और (५) खलीफ़ाओं ने भारत-विजय जैसे महान् कार्य के लिये पर्याप्त सेनाएँ नहीं भेजी थीं, (६) सिन्ध के प्रान्त को पूर्णरूप से विजय नहीं किया गया था, (७) यही नहीं, वह अत्यधिक निर्धन प्रदेश था और उससे इतनी कम आय होती थी कि उस पर अधिकार रखना निरर्थक था, इसलिये खलीफाओं ने उसे त्याग दिया था, केवल नाम के लिये उनका प्रभुत्व शेष रह गया था।" इन प्रत्यक्ष कारणों के अतिरिक्त हमें उन वास्तविक कारणों पर भी ध्यान देना चाहिए जो अरबी इस्लाम की जड़ों पर ही प्रहार करके उसकी जीवन-शक्ति को नष्ट कर रहे थे। सर्वप्रथम ख़िलाफ़त के लिये ही संघर्ष हुआ जिसके परिणामस्वरूप अब्बासियों ने उमय्यदों का नाश कर दिया। उमय्यदों के तत्वावधान में भारत-विजय का जो कार्य आरम्भ हुआ था उसे उसी पीढ़ी में इस क्रान्ति के कारण एक भारी धक्का पहुँचा। भारत में इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि पुराने शासन से सम्बन्धित सभी पदाधिकारी एक दम हटा दिये गये और उनका स्थान नये शासन के भक्तों ने ले लिया। (९) इसके उपरान्त हारून-अल-रशीद के समय में खलीफ़ा का विनाशकारी ठाट-बाट आरम्भ हुआ, ख़लीफाओं के साम्राज्य का "इस्लाम के मौलिक तथा जीवनप्रद सभी तत्वों से सम्बन्ध विच्छेद हो गया और "कुरान की धार्मिक कट्टरता तथा अरबी सादगी" का स्थान "चिन्तनयुक्त दर्शन तथा उच्चकोटि के रहन-सहन" ने ले लिया। "इस्लाम की कठोरता तथा सादगी ही केवल ऐसे बन्धन थे जो साम्राज्य की एकता बनाये रख सकते थे, किन्तु खलीफा तथा उसके परामर्शदाताओं ने उन्हें पूर्णरूप से त्याग दिया था।" (सर मार्क साइकैस की पुस्तक 'दी कैलिफ्स लास्ट हैरीटेज' से एच० जी० वैल्स द्वारा उद्धृत)। इसके उपरान्त जब राष्ट्रवाद की लहर संसार को तेज़ी से अभिभूत कर रही थी, उस समय जातीय, धार्मिक तथा राजनैतिक गुटबन्दी के कारण इस्लामी मिल्लत छिन्न-भिन्न हो गई। शीघ्र ही अरबी ख़िलाफत को तुर्कों ने भूमिसात कर दिया और करमाथी आदि विद्रोही सम्प्रदायों के लोग मुसलमानों शरण-स्थान सिन्ध में आकर एकत्र होने लगे।

विजेताओं की पराजय

आज *भारत संसार का सबसे बड़ा इस्लामी देश है। अकेले बंगाल के प्रान्त में इतने मुसलमान हैं जितने कि अरब, टर्की और ईरान में मिला कर भी नहीं हैं। फिर भी देश में मुसलमान अल्प-संख्या में हैं, एक मुसलमान है, तो चार हिन्दू हैं। यह भी तब है जब कि मुसलमानों ने दृढ़-संकल्प से एक हजार वर्ष (७१२-१७१२ ई०) तक शासन किया और उससे भी अधिक काल तक निरन्तर धर्म

* 'भारत' से यहाँ विभाजन से पहले का भारत समझना चाहिये।

रिवर्त्तन का कार्य जारी रक्खा। विश्व इतिहास में यह एक अनोखी घटना है र कारण ढूँढ निकालने के लिये हमारे विचारों को चिनौती देती है। इसे ामने रखते हुए हम अरबों को, सिन्ध में उन्हे जो असफलता हुई, उसके लिये ोषी नहीं ठहरा सकते, एक तो उन्होंने पूरे हृदय से अपना कार्य सम्पादित रने का प्रयत्न नहीं किया था, दूसरे १६० वर्ष (७११–८७१ ई०) के बाद सिन्ध र से उनका नाममात्र का नियन्त्रण भी जाता रहा था।

८७१ ई० में सिन्ध खलीफाओं के हाथों से निकल गया, किन्तु उस समय क भी वह पूर्ण रूप से अरब प्रान्त नहीं बन पाया था। हम पहले देख चुके ; कि किस सीमा तक परिस्थितियों की माँग ने विजेताओं के प्रारम्भिक उत्साह ो ठण्डा कर दिया था। स्थायी उपनिवेश बसाने के लिये अरबों की शायद ी कोई कुमुक आई हो। जो यहाँ बच रहे, वे समुद्र में द्वीपों के समान थे। सली अरब जिन्हें देश में बिखरे हुए किलों की रक्षा के लिये नियुक्त किया गया ा, शीघ्र ही काफिरों में घिर गये और अपनी राष्ट्रीय विशेषतायें खो बैठे। वे सेन्ध में एक नई सभ्यता के लिये मार्ग प्रशस्त करने वालों के रूप में नहीं आये थे, वे तो एक सैनिक धर्म की असिधारी भुजा के सदृश थे। उनमें संस्कृति ा लगभग सर्वथा अभाव था। इसलिये वे कोरे विध्वंसकारी थे, निर्माण करने की शक्ति उनमें नहीं थी। उनकी बुद्धि तथा भावुकता तीव्र थी, किन्तु कविता को छोड़ कर वे अन्य किसी कला से परिचित नहीं थे, यहाँ तक कि वे एक स्थायी राज्य बनाने की कला से भी अनभिज्ञ थे। जैसा कि सर जॉन मार्शल ने लिखा है "अरबों में निर्माणात्मक प्रतिभा बिलकुल नहीं थी। यदि वे अपने पूजागृहों को उतना ही आकर्षक बनाना चाहते थे जितने कि उनके प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के अनुयायियों के थे तो उनके लिये विजित देशों के शिल्पियों और कलाकारों से काम लेना अनिवार्य था।" तथाकथित सारसैनी स्थापत्य के विकास की यही प्रक्रिया थी। इसलिये अरब लोग भारत से लूट के धन से भी अधिक मूल्यवान् वस्तु ले गये। हैवेल लिखते हैं, "जिस समय इस्लाम सीखने योग्य यौवन की अवस्था में था उस समय उसे यूनान ने नहीं, भारत ने दीक्षा दी, उसके दर्शन तथा आध्यात्मिक धार्मिक आदर्शों का निर्माण किया और उसके साहित्य, कला तथा स्थापत्य की विशिष्ट शैलियों को अनुप्राणित किया।" अरब आक्रमणकारियों को लूट में सबसे मूल्यवान् वस्तु भारत की वह सांस्कृतिक निधियाँ मिलीं जिनका हम पहले अध्याय में संक्षिप्त उल्लेख कर चुके हैं। इन्हें उन्होंने भारत के सब भागों में, जब तक उन्हें अवसर मिला, खुल कर लूटा। सिन्ध के पतनशील प्रान्त में भी विजेताओं को जीतने के लिये पर्याप्त सामग्री थी। गोल्डजिहर का मत है कि 'सिन्ध के बौद्ध भिक्षुकों का इस्लाम पर केवल सैद्धान्तिक रूप से ही प्रभाव नहीं पड़ा।' अब्बासी खिलाफत के समय में ही वे इस्लाम के अनुयायियों के लिये व्यावहारिक महत्व का विषय बन चुके थे, जिस प्रकार कि उससे पहले सीरिया के ईसाई परिव्राजकों ने अरबों का

ध्यान आकृष्ट किया था। दूसरे, बौद्ध तथा अन्य भारतीय ग्रन्थों का या तो सीधा संस्कृत से अथवा फ़ारसी अनुवादों से, अरबी में रूपान्तर किया गया। उदाहरण के लिये, खलीफ़ा अल मंसूर के समय में (७५४–७५ ई०) फज़ारी ने भारतीय विद्वानों की सहायता से ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मसिद्धान्त' तथा 'खण्डखाद्यक' नामक ग्रन्थों का संस्कृत से अरबी में अनुवाद किया। तबरी लिखता है कि खलीफ़ा हारून-अल-रशीद को एक भारतीय वैद्य ने असाध्य रोग से अच्छा किया था। अन्त में कानूनी इस्लाम के विरोध में ज़ुह्द (संन्यास अथवा तपस्या का मार्ग) का प्रादुर्भाव हुआ, इसके प्रवर्तक अबूल अताहिया (७४८–८२५ ई०) जैसे आचार्य थे। लोग उसका एक अत्यधिक सम्मानित व्यक्ति के रूप में आदर करते और समझते थे कि वह भिखारी के वेश में राजा है ...... यह वह व्यक्ति है जिसके लिये लोगों में अत्यधिक श्रद्धा है।" गोल्डजिहर पूछता है "क्या वह बुद्ध नहीं है?"

सिन्ध हिन्द का लघु रूप था। उस प्रान्त में अरबों का इतिहास भारत में इस्लाम के भाग्य का सारांश था। क्षितिज पर उदय हुआ इस्लामी अर्धचन्द्र वास्तव में भारतीय राज्याकाश के मध्य-बिन्दु तक पहुँचने को था, किन्तु फिर भी वह अर्धचन्द्र ही रहा, पूर्णचन्द्र होना उसके भाग्य में नहीं था।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
६३७	अरबों का ईरान में पहुँचना।
६५०	इस्लाम आक्सस तक पहुँचता है।
६६४	अरब काबुल में १२००० हिन्दुओं को मुसलमान बनाते हैं।
७१३	अरबों की विजयें अरब सागर तथा जैक्सार्टस तक फैल जाती हैं।
७२५—४०	अरबों का गुजरात तथा मालवा में पहुँचना।
७५०-	दमिश्क में अब्बासी उमय्यद खिलाफत का नाश कर देते हैं।
७८८	मालाबार में प्राप्त सबसे पुरानी तिथि (१६६ हिज्री) की मुस्लिम कब्र।
८५०	अरब पर्यटक सुलैमान अमोघवर्ष राष्ट्रकूट की संसार के महानतम चार शासकों में गिनती करता है। राष्ट्रकूटों का अरबों के प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार।
८७१	सिन्ध का खलीफाओं के हाथों से निकल जाना।
८४०—६४०	गुर्जर-प्रतिहार (मिहिरभोज तथा महिपाल) अरब आक्रमणों को रोक देते हैं।
६५०	काश्मीर की रानी दिद्दा का दादा भीम (ब्राह्मणशाही) काबुल पर शासन करता है। ग़जनी के विरुद्ध युद्ध करने वाला जयपाल भीम का उत्तराधिकारी था।

९५०—९९	महोबा का चन्देल नरेश धग जयपाल के संघ में सम्मिलित होता है।
९५८-१००३	दिद्दा तथा उसके प्रियजन काश्मीर में शासन करते हैं।
९६१	अन्हिलवाड (गुजरात) के सिंहासन का सोलंकियों द्वारा अपहरण।
९६२	अलप्तगीन ग़जनी में अपनी शक्ति की स्थापना करता है।
९७२	मालवा का हर्षसिंह राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेत को लूटता है।
९७५	काबुल के हिन्दुओं तथा ग़ज़नी के मुसलमानों में प्रथम संघर्ष।
९७७	सुबुक्तगीन का ग़जनी की गद्दी पर बैठना।
९८५-१०१६	राजराज चोल दक्षिणी भारत पर शासन करता है।
९९१	सुबुक्तगीन कुरम की घाटी में जयपाल के संघ को परास्त कर देता है।
९९५	मालवा का मुञ्ज चालुक्य राज्य पर छठवें आक्रमण में मारा जाता है।
९९७	महमूद गजनी में सुबुक्तगीन का उत्तराधिकारी बनता है।
१००१	महमूद का भारत पर प्रथम आक्रमण।
१००८	आनन्दपाल की पेशावर में पराजय।
१०१०-६५	मालवा का महान् नरेश भोज चेदि, लाट, कर्नाटक आदि के विरुद्ध युद्ध।
१०२३	राजेन्द्र चोल प्रथम का बंगाल आदि पर आक्रमण।
१०२५	महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ मन्दिर की लूट।
१०४४-६२	चालुक्य विक्रमादित्य का बंगाल आदि पर आक्रमण।

३

भारत में मूर्तिभंजक (बुतशिकन)

अरब सत्ता का अन्त

सिन्ध तथा मुलतान के बाद पंजाब की मुस्लिम प्रान्त बनने की बारी आई। इस बार दण्ड देने के उद्देश्य से चढ़ाई नहीं की गई थी जैसा कि अरबों ने किया था, बल्कि यह एक तुर्क साहसिक द्वारा लूट के लिये आक्रमण था यद्यपि सिन्ध तथा मुलतान उत्तर-पश्चिम में होने वाले दूसरे आक्रमण के समय तक मुसलमानों के प्रभुत्व में बने रहे, किन्तु इमादुद्दीन के बाद फिर नई विजयें नहीं की गईं। यह भी स्मरण रखने की बात है कि इमादुद्दीन सैनिक साहसिकों के गिरोह का नेता नहीं था जो अपने उच्छृंखल मनोवेग के अनुसार कार्य कर सकता, बल्कि वह इस्लामी जगत के सर्वोच्च प्रमुख खलीफ़ा की स्थापित सत्ता का प्रतिनिधित्व कर रहा था। महमूद ग़ज़नवी (९९७–१०३० ई०) ने जिसके वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन हम इस अध्याय में करेंगे, अपनी ओर से भारत पर लगातार सत्रह आक्रमण किये, एक राजवंश की स्थापना की जिसने पंजाब पर १५० वर्ष (१०३०–११८६ ई०) से अधिक शासन किया, और अन्त में अपने तात्कालिक उत्तराधिकारियों को विजय के लिये प्रेरित किया जिन्होंने भारत में इस्लामी प्रभुत्व की परम्परा को स्थापित रक्खा। आगे आने वाले बाबर अथवा उससे भी अधिक नादिरशाह के सदृश महमूद के कार्य भारत के बाहर भी फैले हुए थे और वे उसने जो कुछ भारत में किया, उससे कम दिलचस्प नहीं थे। आठवीं शताब्दी में अरबों ने तो केवल प्रारम्भिक कठिनाइयों पर विजय पाकर मार्ग दिखलाया था, जब कि महमूद ग़ज़नवी ने ट्रांसऑक्सियाना की ओर से आनेवाली उस बाढ़ के लिये भारत के फाटक खोल दिये जो बगदाद की पतनशील खिलाफ़त के तट पर पहले से ही टक्करें मार रही थी। ग़ज़नवी के आक्रमणों के महत्त्व को भलीभाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम हिन्दूकुश के उस पार की परिस्थितियों की पड़ताल कर लें।

अरब लोग पैगम्बर की मृत्यु के वर्ष (६३२ ई०) में ही ईरान में पहुँच चुके थे। उन्होंने ६३७ ई० में कदेसिया के युद्ध में सासानी सम्राट रुस्तम को हराया

र मार डाला, और शताब्दी के मध्य तक (६५० ई०) ऑक्सस तक इस्लामी ता फैला दी। लगभग पन्द्रह वर्ष उपरान्त (६६४ ई०) उन्होंने काबुल पर क्रमण किया और १२००० लोगों को मुसलमान बनाया, किन्तु काफिर राजाओं सुदृढ़ स्थिति के कारण वे उस देश को विजय न कर सके। ये राजा कौन थे, हम अभी बतलायेंगे। अन्त में लगभग सिन्ध विजय के समय ही अरबों ने ऑक्सस को पार किया, समरकन्द और बुखारा को हस्तगत कर लिया, अराल ील पर स्थित ख्वारिज़्म को जीत लिया, फरगाना के राज्य को पदाक्रान्त कर या और अरबों के आधिपत्य को इमॉस पर्वत तथा जक्सार्टस तक फैला दिया ७१२ ई०)। इसके बाद एक शताब्दी से भी कुछ अधिक काल तक खलीफाओं अपने इन दूरस्थ प्रदेशों की विलास वस्तुओं, शक्ति तथा प्रतिष्ठा का उपभोग क्या। तत्पश्चात् अवश्यम्भावी पराभव आया, जिसके सम्बन्ध में हम पिछले ध्याय में लिख आये हैं। एलफिंस्टन ने पतन की सीढ़ियों का सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। खलीफाओं की प्रवृत्ति में धीरे धीरे परिवर्तन हुआ। कट्टर धर्म प्रचारकों से वे नीतिकुशल शासक बन गये और धर्म प्रचार की अपेक्षा वे अपने रिवारों की शक्ति तथा प्रतिष्ठा की वृद्धि की ओर अधिक ध्यान देने लगे और इसी प्रकार वे उजड्ड सैनिकों से वैभवयुक्त तथा विलासी सम्राटों में परिवर्तित हो गये ; अब उनके पास युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्य भी थे और विजय से अधिक आकर्षक उन्हें अन्य आनन्द लगते थे। उमर ने जब जेरूसलम में स्थित अपनी सेना के लिये प्रस्थान किया था तो जिस ऊँट पर वह स्वयं सवार था उसी पर अपने अस्त्र-शस्त्र तथा भोजन सामग्री रख कर ले गया था; उथमन जब अपना दिन का कार्य समाप्त कर लेता तो अपना दीपक बुझा देता था, जिससे जनता का तेल उसके आमोद-प्रमोद पर न व्यय हो, उथमन के बाद एक शताब्दी के भीतर ही अलमहदी के लिये ५०० ऊँटों पर बर्फ लादी जाती थी, और अब्बासी खलीफा एक दिन में जितना धन उड़ाते उससे प्रथम चार खलीफाओं का पूरा खर्च चल जाता। जब इस प्रकार विलासिता तथा गृहकलह के कारण खिलाफत की जड़ें खोखली हो रही थीं, उसी समय साम्राज्य के भीतर एक नई शक्ति का उदय हो रहा था जो शीघ्र ही उसके अस्तित्व को ही मिटाने वाली थी। वह शक्ति तुर्कों की थी। उनके उदय के साथ-साथ अरब शासन का अन्त हो गया।

तुर्कों का अभ्युदय

तुर्क लोग अरबों तथा ईरानियों दोनों से पूर्णतया भिन्न थे। पहले, रेगिस्तानी प्रायद्वीप के निवासी अरबों की आदिम सरलता तथा स्फूर्ति ने उनसे अधिक सुसंस्कृत ईरानियों की वैभवपूर्ण निरंकुशता तथा सुखमय जीवन के सामने घुटने टेक दिये। फिर तुर्कों ने मुसलमानों के धर्म तथा भाग्य दोनों को एक पूर्णतया नई दिशा में मोड़ दिया। अरब इस्लाम को कर्डोवा तक ले गये ; ईरानियों ने उसे बगदाद पहुँचाया और तुर्क उसे दिल्ली ले आये। ट्रांसआक्सियाना के

लोगों के मुसलमान बन जाने के फलस्वरूप स्वयं इस्लाम का ही रूपान्तर ह
गया। उसके मूल प्रचारक अरबों का सच्चा उत्साह दो सौ वर्ष से कम ही में ठंढ
पड़ गया था, जब कि इन नये मुसलमानोंकी धार्मिक कट्टरता जितने दिनों तक टिक
उसका हज्जाज और इमादुद्दीन स्वप्न भी नहीं देख सकते थे। भारत के भाग
का निर्माण हिन्दूकुश के उस पार उस समय हुआ जब ९ वीं १० वीं शताब्दि
में तुर्कों ने बगदाद और बुखारा में अपने स्वामियों का ही तख्ता लौट दिय
और अपने लिये स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। खलीफाओं के ईरानी तथ
अफगान प्रदेशों में इन राज्यों की नाव डालने वाले तुर्की गुलाम थे, किन्तु निर्या
ने उनका साथ दिया और आगे चलकर उन्होंने इस्लाम की शक्ति तथा प्रतिष
को पुनर्जीवित तथा विस्तृत किया और भारत की असंख्य जनता को दासत
की कड़ियों में जकड़ा। लगातार अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने इन बर्बर, ध
लोलुप तथा धर्मान्ध तुर्कों को सिन्ध की घाटी की ओर मोड़ दिया और वहाँ
फिर वे भारत के धन-धान्यपूर्ण मैदानों की ओर आकृष्ट हुए। इन घटनाओं
से पहली काबुल के राज्य में घटी।

ब्राह्मणशाहियों का पीछे लौटना

हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं कि काबुल की घाटी में अपने प्रारम्भिक धा
के बीच एक बार अरबों ने ६६४ ई० में १२००० लोगों को मुसलमान बनाया था
हम यह भी बतला आये हैं कि इस दिशा में मुसलमानों की कम सफलता ं
कारण काबुल के शासकों की शक्ति थी। इन शासकों की नस्ल के सम्बन्ध
विभिन्न अनुमान लगाये गये हैं, कुछ लोग उन्हें ईरानी बतलाते हैं और कु
तुर्क, किन्तु हमारे पास उन्हें हिन्दू मानने के लिये युक्तिसंगत प्रमाण मौजूद हैं।

इस प्रदेश में अशोक तथा कनिष्क के समय से ही बड़ी संख्या में बौद्ध लो
रहते आये थे। जब युवान-च्वांग ने उस देश का भ्रमण किया, उस समय वा
एक क्षत्रिय राजा राज्य करता था। अल-बरूनी लिखता है कि यह राजव
-शाही के नाम से विख्यात था, इसमें साठ राजा हुए थे और उनमें से अन्ति
लगतूर्मान को ९ वीं शताब्दी के अन्त में उसके ब्राह्मण मन्त्री ने अपदस्थ कर दिय
था। अल बरूनी के कथन की पुष्टि उसके बताये हुए ब्राह्मण राजाओं के सिक्
तथा राजतरङ्गिणी में कल्हण के स्वतन्त्र वर्णन से होती है। इन कई साधनों
विदित होता है कि ९५० ई० के लगभग काश्मीर की रानी दिद्दा का दादा भी
काबुल पर शासन करता था। उसका उत्तराधिकारी जयपाल हुआ, उसका ना
स्मरणीय है, क्योंकि वह पहला हिन्दू राजा था जिसने हिन्दुस्तान की ओ
उमड़ती हुई तुर्की बाढ़ से वीरतापूर्वक टक्कर ली। काबुल के इन ब्राह्मण राजाओं
को अपने सम्बन्धी काश्मीर के शासकों से सहायता भी मिली, फिर भी वे काबु
की घाटी में गजनवियों के विरुद्ध अधिक दिनों तक न टिक सके और अपना सुरक्षा
के लिये अधिक अच्छा संगठन करने को भटिंडा में शरण लेने केलिये बाध्य हुए।

ग़ज़नी का राज्य

के शासन-काल में हिन्दुओं तथा मुसलमानों में पहला संघर्ष हुआ जिसमें "हिन्दू आक्रमणकारी थे। पंजाब का राजा जिसका राज्य हिन्दूकुश तक फैला हुआ था और जिसमें काबुल सम्मिलित था, उस विशाल पर्वतमाला के दक्षिण में मुस्लिम राज्य की स्थापना को देख कर भयभीत हो उठा और गजनी के राज्य पर आक्रमण कर दिया, किन्तु पराजित हुआ।" कुछ भी हुआ हो हम यह नहीं भूल सकते कि तीन सौ वर्ष पहले (६६४ ई०) अरब इस राज्य पर चढ़ आये थे और उन्होंने १२,००० नागरिकों को मुसलमान बना लिया था। तब से लेकर शताब्दियों भर संघर्ष चलता रहा था और तथाकथित हिन्दू आक्रमण उस युद्ध-परम्परा में अन्तिम था। हमें स्मरण रखना चाहिये कि काबुल के हिन्दू राजाओं के लिये यह श्रेय की बात थी कि उन्होंने तीन शताब्दियों तक (६६४–९७७ ई०) वीरतापूर्वक उस शक्ति से टक्कर ली जिसने ईरान तथा तुर्किस्तान को अभिभूत कर दिया था। ९८६ ई० में सुबुक्तगीन ने काबुल पर आक्रमण किया और बहुत सा लूट का धन तथा अनेक लोगों को दास बना कर ले गया। दो वर्ष उपरान्त उसने अपने कार्यों को फिर दुहराया और जयपाल से काबुल तथा बहुत-सा अन्य प्रदेश छीन लिया। किन्तु सुबुक्तगीन ने कभी सिन्ध को पार नहीं किया। यह कार्य उसने अपने अधिक साहसी पुत्र के लिये छोड रक्खा था।

महमूद गजनवी

अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त (९९७ ई०) महमूद ने एक अल्पकालीन गृह-युद्ध में अपने भाई इस्माइल को पराजित किया और उसे आजीवन बन्दी बना कर, स्वयं गजनी के सिंहासन पर बैठा। उस व्यक्ति के लिये जो हिन्दुस्तान का पहला मुस्लिम सुल्तान होने जा रहा था, यह एक अपशकुन था। किन्तु इस्लामी इतिहास में ऐसी घटनायें बहुत सामान्य थीं, इसलिये इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया। महमूद का जन्म १ नवम्बर ९७१ ई० को हुआ था और सिंहासन पर बैठने के समय (९९८ ई०) उसकी अवस्था २७ वर्ष की थी। इससे पहले वह चार वर्ष तक खुरासान का जिसे ९९४ ई० में विजय किया गया था, सूबेदार रह चुका था। गद्दी पर बैठने के एक वर्ष के भीतर ही महमूद ने सीमान्त पर अधिकार कर लिया, बग़दाद के खलीफा अल-कादिरबिल्लाह ने उसे सम्मान-सूचक वस्त्र तथा मान्यतापत्र प्रदान किये और यमीन-उद्-दौला तथा अमीन-उल-मिल्ला की उपाधियाँ देने के अतिरिक्त उसे अफगानिस्तान, सीमान्त तथा खुरासान का शासक स्वीकार कर लिया। इस पवित्र अवसर पर महमूद ने काफिरों के विरुद्ध जिहाद लड़ने तथा मूर्तिपूजा का नाश करने के उद्देश्य से प्रति वर्ष भारत पर आक्रमण करने का प्रण किया। किन्तु खुरासान के विद्रोह के कारण वह दो वर्ष बीतने से पहले भारत पर अपने धावे प्रारम्भ न कर सका।

होने से पहले ही मुसलमानों ने ईश्वर के शत्रु काफिरों से बदला ले लिया, उनमें २५,००० मौत के घाट उतार दिये और कालीन की भाँति उन्हें पृथ्वी पर बिछा दि जिसमें हिंसक पशु-पक्षी उन्हें अपना भोजन बना सकें।'

जयपाल, उसके मुख्य पदाधिकारी तथा सम्बन्धी बन्दी बना लिये गये और 'ह मजबूती से रस्सियों में बाँध कर सुल्तान के सम्मुख उपस्थित किया गया, मानों वे प थे जिनके मुख पर कुफ्र के चिन्ह स्पष्ट थे और जो शीघ्र ही दोजख भेजे जाने वाले कुछ के हाथ बलपूर्वक पीठ पीछे बाँध दिये गये थे, कुछ को गाल पकड कर घसीटा ग था और कुछ को गर्दन में घूँसे लगाकर आगे हाँका गया था।'

'ईश्वर के मित्रों ने सोने की भी उपेक्षा नहीं की। इसलिये जयपाल के कंठ से उतार लिया गया जो सोने में जड़े हुए बड़े-बड़े मोतियों, चमकते हुए रत्नों तथा लालों बना हुआ था और जिसका मूल्य २००,००० दीनार था, और इसके दूने मूल्य के जयपाल के बन्दी बनाये गये अथवा मारे गये सम्बन्धियों के गलों से प्राप्त हुए। ईश्वर अपने मित्रों को लूट में अपरिमित तथा असख्य धन प्रदान किया, उसमें ५००,००० सु स्त्रियाँ और पुरुष भी सम्मिलित थे जिन्हें दास बना लिया गया था।'

महमूद को यह 'विख्यात तथा शानदार विजय, मंगलवार, ८ मुहर्रम, हि सन् ३९२ (२७ नवम्बर, १००१ ई०) के दिन प्राप्त हुई, इसके उपरान्त वह अ देश को लौट गया, 'सर्वशक्तिमान ईश्वर की कृपा से उसे हिन्द के एक प्रान्त पर विजय मिली थी जो खुरासान से अधिक लम्बा, चौड़ा तथा उपज था।' दोनों दलों पर इसकी जो मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया हुई, उसे भी ह नहीं भूलना चाहिये।

बहुमूल्य बन्धकों के अतिरिक्त जयपाल को अपने छुटकारे के लिये २५,० दीनार और देने पडे। किन्तु वह इस अपमान के आघात को सहन न सका। युद्ध में पराजय तो एक अवसर की बात थी, उसने पहले भी वीरतापू युद्ध किये थे और जय तथा पराजय भोगी थी। किन्तु म्लेच्छों द्वारा वह ब बनाया गया और महमूद ने उसके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया, बस, उस उसके देश के विधान में एक ही प्रायश्चित था और उसे उसने सहर्ष स्वीक किया। अपने हाथों से जलाई हुई चिता में बैठ कर वह भस्म हो गया।

जैसी कि आशा की जा सकती थी, महमूद तथा उसके सहधर्मियों उसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। सरल विजय ने उनके आत्म-विश्वास द्विगुणित कर दिया और लूट के धन से उनकी धन-लिप्सा और भी अधिक ती हो गई। धर्म ने युद्ध को जिहाद कह कर इस लोभ पर औचित्य मोहर लगा दी।

चन्दा भेजा। सुलतान ने अनुभव किया कि इस अवसर पर काफिरों का आचरण अत्यधिक लगन का है इसलिये पहला आक्रमण करने में पर्याप्त सावधानी बरतने की आवश्यकता है।'

परिस्थिति का सामना करने लिये महमूद ने अपनी रणनीति बदल दी। इस बार उसने पहले आक्रमण नहीं किया, जैसा कि आठ वर्ष पूर्व उसने जयपाल के विरुद्ध किया था, बल्कि पेशावर के मैदान में खाइयाँ खोद कर मोर्चा लगा लिया।

फरिश्ता लिखता है 'सुलतान की सावधानियों के बावजूद भी जब युद्ध ने तेजी पकड़ी तो ३०,००० काफिर खोक्खर नंगे सिर तथा नंगे पैर, भाले तथा अन्य हथियार लेकर महमूद की दो पाँतों को तोड़ कर घुस गये और घुड़सवार दल के मध्य में पहुँच कर अपनी तलवारों, भालों और बर्छियों से सैनिकों तथा घोड़ों को ऐसा काटा कि कुछ ही मिनट में तीन-चार हजार मुसलमानों का संहार हो गया। इन खोक्खर पैदलों का प्रहार इतना सफल हुआ कि उनके क्रोधोन्माद को देख कर सुलतान स्वयं लड़ाई के घमासान से पीछे हट गया और उस दिन का युद्ध बन्द करने की सोचने लगा। कुछ लेखकों के वर्णन से पता लगता है कि उसने पीछे लौटने तक का विचार कर लिया था किन्तु जैसा कि उस युग की भारतीय सेनाओं में बहुधा हुआ करता था, इस अवसर पर भी वही दुर्घटना हो गई जो अरबों के विरुद्ध युद्ध में दाहिर के साथ हुई थी। जिस हाथी पर आनन्दपाल सवार था 'वह ज्वलनशील गोलों तथा बाणों की मार के कारण काबू के बाहर हो गया और पीछे मुड़कर भाग खड़ा हुआ। हिन्दुओं ने समझा कि हमारा सेनापति भाग गया है इसलिये वे सब भी भाग खड़े हुए। परिणाम यह हुआ कि इस पीछे लौटने में आठ हजार हिन्दू मारे गये। पीछा करनेवालों के हाथ तीस हाथी तथा अपार धन लगा जिसे उन्होंने सुलतान के सुपुर्द कर दिया।

इस प्रकार मध्य युगीन भारत का विदेशियों के विरुद्ध किया गया यह सबसे अधिक संगठित, आश्चर्यजनक तथा सकलपयुक्त प्रयत्न असफल रहा। इस अत्यधिक सौभाग्यपूर्ण सफलता से प्रोत्साहित होकर महमूद हिन्दुस्तान में आगे की ओर बढ़ता आया।

स्वर्ण राशि की लूट

अब तक महमूद ने जो कुछ किया था वह प्रयोग के रूप में था, अथवा उसे भाग्य का खेल कहिये। तुर्कों के लिये भारतीय आक्रमण शीतकालीन खेल के सदृश था। जब अपने राज्य के प्रान्तों की परिस्थितियाँ अनुकूल होतीं तभी वे हिन्दुस्तान के मैदानों पर धावा बोल देते। शीतकाल में यहाँ जाड़ा भी उतना कड़ा नहीं पड़ता था। शरद तथा शीत ऋतु में इन काफिरों के देश से धन लूट कर बसन्त तथा गर्मी की ऋतुएँ घर बिताना उनके लिये अधिक आनन्ददायक हो जाता था। इस्लाम के आन्तरिक द्रोह का उन्मूलन तथा मूर्तिपूजा का नाश

करना भी 'ईश्वर के मित्रों' के 'आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद' होता था। किन्तु १००८ ई० में पेशावर के युद्ध में भारतीय राष्ट्रीय मोर्चे की पराजय ने महमूद की ओडेसी (महाकाव्य) का एक नया अध्याय प्रारम्भ कर दिया। उसके बाद वह निश्चितरूप से स्वर्णाचर्म की तलाश में जुट गया।

नगरकोट (१००९ ई०), थानेश्वर (१०१४ ई०), मथुरा (१०१८ ई०), कन्नौज (१०१९ ई०) और सोमनाथ (१०२५ ई०) सोने के अक्षर थे जो महमूद के लोलुप हृदय की पट्टी पर लिखे हुए थे। इन स्थानों के धन-कोषों को वह लोभ-पूर्ण दृष्टि से देखा करता था। १००८ ई० में नगरकोट (काँगड़ा) के प्राचीन मन्दिर की लूट से मानों इस चीते (महमूद) को रक्त का स्वाद मिल गया। उसकी लोलुपता तब तक शान्त नहीं हुई जब तक कि १०२५ ई० में उसने सोम-नाथ को नहीं लूट लिया। तब नियति ने उसे गजनी लौटने को बाध्य किया।

महमूद अनुभवी सैनिक था। भय के लिये उसके हृदय में स्थान नहीं था। फिर भी पंजाब के ब्राह्मण राजा जयपाल के बाद जिसने सच्चे क्षत्रिय की भावना से युद्ध किया था, उसे इस देश के राजाओं में उस धातु का बना हुआ कोई शत्रु नहीं मिला। उसकी सेना हिन्दुस्तान के राज्यों के बीच में होकर उसी भाँति दौड़ गई जैसे कि 'केश समूह में होकर कंघा'। जिधर से भी महान् सुलतान निकल गया किलों तथा नगरों ने उसके सामने आत्म-समर्पण कर दिया। निकम्मे राजाओं ने अपने अनुयायी उसकी सेवा के लिये भेज दिये। आवश्यकता पड़ने पर उसने युद्ध भी किया, किन्तु बहुधा केवल अपनी प्रतिष्ठा के कारण ही उसे विजय प्राप्त हो जाती थी। ऐसा लगता है कि पेशावर के बाद सारे देश को लकवा मार गया था। राजाओं से उसे जमकर लड़ाई नहीं लड़नी पड़ी, किन्तु उसके वीर सैनिकों की लिप्सा को प्रज्वलित करने के लिये यहाँ के मन्दिरों में अपार धन था। मूर्ति-मन्दिरों को नाश करने के पवित्र कार्य से वे एक ही साथ ईश्वर तथा लक्ष्मी (धन देवी) दोनों को प्रसन्न कर सकते थे।

एक के बाद एक, हर मन्दिर में वही कहानी दुहराई गई। "हिन्दुओं ने शत्रु को टिड्डी-दल की भाँति, आते हुए देखा, भय के मारे उन्होंने फाटक खोल दिये और उसी तरह भूमि पर गिर गये जैसे बाज के सामने चिड़ियाँ अथवा बिजली के सामने वर्षा का जल।" उतबी के अनुमान से नगरकोट की लूट में उन्हें इतनी धन-राशि मिली कि जितने भी ऊँट उन्हें मिल सके, उनकी पीठ पर उन्होंने उसे लाद दिया और जो बच रहा उसे पदाधिकारियों ने आपस में बाँट लिया। ७०,००० शाही दिर-हाम के मूल्य के मुद्रांकित सिक्कों तथा ७००,४०० मन सोने तथा चाँदी की शिलाओं के अतिरिक्त उन्हें ऐसे सुन्दर, कोमल तथा जड़ाऊ पहनने के वस्त्र तथा सुस के थान प्राप्त हुए जैसे कि बूढ़े लोगों ने भी अपनी स्मृति में कभी नहीं देखे थे। लूट के धन में श्वेत चाँदी का एक घर भी मिला जो धनी लोगों के घरों के सदृश था और जिसकी लम्बाई ३० तथा चौड़ाई १५ गज थी। उसके भागों को अलग-अलग करके

फिर पूर्ववत् जोड़ा जा सकता था। रूमी कपड़े का बना हुआ एक शामियाना भी थ जिसकी लम्बाई ४० और चौड़ाई २० गज थी और जो ढले हुए दो चाँदी तथा दो सोने के खम्भों पर सधा हुआ था।

महमूद ने मथुरा और वृन्दावन में जान-बूझ कर कलाकृतियों के प्रति जितनी क्रूर बर्बरता दिखलाई उतनी और कहीं नहीं। किसी वस्तु की प्रशंसा तथा सराहना करना और फिर उसका नाश करना तो इससे भी बुरा है कि कभी उसकी सराहना की ही न जाय। ऐलरिक गौथ अथवा एटिला हूण अथवा नौर्मन लुटेरे रौबर्ट गिस्कार्ट ने भी जिसने १०८४ ई० में मुसलमानों से मिल कर रोम का घेरा डाला था, मानवता तथा सभ्यता के विरुद्ध इतना घोर पाप नहीं किया जितना कि महमूद ने। खलीफ़ा उमर ने भी सिकन्दरिया के पुराने पुस्तकालय का नाश इसलिये किया था कि वह उस निधि के महत्व से पूर्णतया अनभिज्ञ था। इसलिये महमूद ने मथुरा में जो कुत्सित आचरण किया उसका संसार के इतिहास में अन्य उदाहरण नहीं है। उतबी के वर्णन के सामने उसके कुकृत्य की निन्दा करना व्यर्थ है।

उसी का दरबारी इतिहासकार लिखता है कि जब महमूद मथुरा पहुँचा तो 'उसने एक ऐसा नगर देखा जो योजना तथा निर्माण दोनों की दृष्टि से इतना आश्चर्यजनक था कि उसे देख कर यह कहना पड़ता कि यह स्वर्गीय भवन है'। किन्तु उसका सौन्दर्य नारकीय जीवों (हिन्दुओं) की कृति थी इसलिये यदि किसी बुद्धिमान मनुष्य के सम्मुख उसका वर्णन किया जाता तो उसे उसमें शायद ही विश्वास होता।.... 'उसके चारों ओर उन्होंने पत्थर के एक हजार किले बना रखे थे, जिनसे वे मन्दिरों का काम लेते थे।..... और नगर के बीच में उन्होंने एक ऐसा मन्दिर बनाया था जो अन्य सब मन्दिरों से ऊँचा था, उसके सौन्दर्य तथा सजावट का वर्णन करने में सब लेखकों की लेखनियाँ और सब चित्रकारों की तूलिकाएँ भी समर्थ नहीं, उनमें इतनी शक्ति नहीं होगी कि उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करके उसके विषय में विचार कर सकें। सुल्तान ने अपनी यात्रा के जो संस्मरण लिखे उसमें उसने कहा कि यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का भवन बनाना चाहे तो उसे एक-एक हजार दीनार की १००,००० थैलियाँ खर्च करनी पड़ेगी और फिर भी वह अधिक से अधिक कुशल शिल्पियों की सहायता से भी उसे २०० वर्ष में भी पूरा नहीं कर पायगा। इसके बाद उतबी शुद्ध सोने की बनी हुई पाँच मूर्तियों का वर्णन करता है, जिनमें से प्रत्येक पाँच हाथ ऊँची थी और उनमें से एक में एक लाल रत्न जड़ा हुआ था 'जिसे यदि बाजार में रक्खा जाता और ५०,००० दीनार उसका मूल्य बतलाया जाता तो सुल्तान उस मूल्य को कम मानता और बड़ी उत्सुकता से उसे खरीद लेता।' एक दूसरी मूर्ति पर 'एक ठोस नीलम जड़ा हुआ था जिसकी कान्ति नीलाम्बर की सी थी और जिसका मूल्य ४०० मिस्काल था।' एक तीसरी मूर्ति के केवल दो चरणों से ४००,००० मिस्काल सोना प्राप्त हुआ। चाँदी की मूर्तियाँ 'सौगुनी थीं इसलिये जिन लोगों ने उसके वजन का

अनुमान लगाया उन्हें उनके तौलने में बहुत समय लगा।' उन्होंने सम्पूर्ण नगर को ध्वस्त कर दिया और कन्नौज की ओर कूच कर गये।

मध्यकालीन हिन्दू भारत में कन्नौज का वही स्थान था जो प्राचीन भारत में पाटलिपुत्र का और मुस्लिम युग में दिल्ली का। जब से हर्ष ने थानेश्वर छोड़ा था तब से वह (कन्नौज) हिन्दुस्तान की राजधानी बना हुआ था। महान् गुर्जर-प्रतिहार राजाओं ने इसी केन्द्र से शासन किया। इसलिये महमूद द्वारा इस नगर के लूटे जाने का वास्तविक अर्थ होता भारत में गजनी साम्राज्य की स्थापना। किन्तु उसका उससे अधिक महत्त्व नहीं हुआ जितना कि बाद के युग में तिमूर और नादिरशाह द्वारा दिल्ली के लूटे जाने का। बुतशिकन महमूद को भारत में इस्लामी सत्ता स्थापित करने से उतना प्रयोजन नहीं था जितना कि लूटमार से।

राज्य स्थापित करने का काम उसने अपने अफगान उत्तराधिकारी मुहम्मद गोरी (११६३–१२०६ ई०) के लिये छोड़ रखा था। कन्नौज में भी नगरकोट, थानेश्वर और मथुरा के कार्य दुहराये गये। प्रतिहार राजा राज्यपाल ने आत्म-समर्पण कर दिया। नगर के सात किले एक दिन में हस्तगत कर लिये गये। '१०,००० मन्दिरों' को लूटा और नष्ट किया गया। इसके बाद महमूद गजनी को लौट गया। अपने साथ वह ३०००,००० दिरहाम की लूट की सम्पत्ति तथा ५५,००० गुलाम और ३५० हाथी ले गया।

महमूद के इन कार्यों का इस्लामी जगत पर अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ा। जितना गहरा और महान् प्रभाव इस समय पड़ा उतना उस समय भी न पड़ा जब कि आगे चल कर बाबर ने भारत के लूट के धन को अपने सहधर्मियों में अपव्ययतापूर्ण ढंग से लुटाया। महमूद द्वारा सोमनाथ की लूट का वर्णन करने के उपरान्त हम अन्तिम रूप से इसका मूल्यांकन करेंगे। उससे पहले हम इस संकटपूर्ण परिस्थिति में हिन्दू भारत की क्या दशा थी, उसकी एक झाँकी प्राप्त कर लें।

हिन्दू भारत की एक झाँकी

इस समय तक महमूद भारत पर कई आक्रमण कर चुका था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सिनिक लोगों की भाँति हिन्दू सोचते थे कि 'इतिहास से हमें एक ही सबक मिलता है, वह यह कि इतिहास से हमें कुछ नहीं सीखना है।' यदि तत्कालीन लेखक अल-बरुनी का जिसके विषय में अधिक विस्तार से हम आगे लिखेंगे, विश्वास किया जाय, तो हमें पता लगता है कि आनन्दपाल ने अपनी पराजय के बाद महमूद को इस आशय का पत्र लिखा, "मुझे ज्ञात हुआ है कि तुर्कों ने आपके विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपकी सहायता के लिये आऊँ अथवा अपने पुत्र को ५०० घोड़ों, १००० सैनिकों और १०० हाथियों के साथ

आपकी सेवा में भेज दूँ। आपने मुझे जीत लिया है इसलिये मैं नहीं चाहता कि आप पर कोई अन्य व्यक्ति विजय प्राप्त कर सके।" फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि आनन्दपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल ने काश्मीर के सेनापति तुंग की सहायता से महमूद के विरुद्ध युद्ध जारी रक्खा, पिछले अध्याय में हम इसके विषय में लिख आये हैं। किन्तु उन दोनों की पराजय हुई। त्रिलोचनपाल के पुत्र भीम को भी हार खानी पड़ी। वह भाग कर काश्मीर पहुँचा और इस प्रकार उसने उस देश में भी मुसलमानों को आमन्त्रित किया। कहा जाता है कि इस अवसर (१०११ ई०) पर महमूद ने काश्मीर को लूटा और बहुत से लोगों को इस्लाम अङ्गीकार करने पर बाध्य किया। १०१८ ई० में वह गजनी से फिर लौटा और मार्ग में यमुना को पार किया, बरन (बुलन्द शहर) के राजा हरदत्त ने आत्म-समर्पण कर दिया और अपने १०,००० अनुयायियों के साथ मुसलमान बन गया। महावन के कुलचन्द नामक एक अन्य सरदार ने वीरतापूर्वक आक्रमणकारी का सामना किया किन्तु अपने ५०,००० साथियों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ। कहा जाता है कि उनके रक्त से यमुना लाल हो गई।

कन्नौज के घेरे (१०१९ ई०) के बाद एक बार फिर महमूद ने अपनी सेना लेकर देश को छान डाला और मुंज, असनी, शरवा, ग्वालियर और कालिंजर के किले जीत लिये। हिन्दू राजाओं ने मिलकर कार्य करने की अपेक्षा आपस में ही झगड़ा कर लिया। पहले कन्नौज के राज्यपाल को अकेले ही आक्रमणकारी का सामना करना पड़ा और इसलिये वह समर्पण करने पर बाध्य हुआ। किन्तु बाद में अपनी इस दुर्बलता के लिये उसे दण्ड भोगना पड़ा। जैसे ही महमूद ने पीठ फेरी, कालिंजर के चन्देल राजा गण्ड ने ग्वालियर के राजा को साथ लेकर राज्यपाल पर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला। इस कारण फिर एक बार महमूद को हिन्दुस्तान के मैदानों में उतरना पड़ा और यहाँ के झगड़ालू राजाओं को उसने अन्तिम रूप से कुचल दिया। पहले तो उन्होंने विशाल सेना (फरिश्ता के अनुसार ३६,००० घोड़े, ४५,००० पैदल और ६४० हाथी) लेकर प्रदर्शन किया किन्तु बाद में दुम दबा कर भाग गये। सदैव की भाँति इस बार भी महमूद की विजय हुई और राजाओं ने उसके सम्मुख समर्पण कर दिया। लूट में उसे अपार धन और हाथी मिले। १०२२ ई० में महमूद गजनी को लौट गया।

बुत-शिकन का अन्तिम कृत्य

इस नाटक का अन्तिम अङ्क १०२५ ई० में खेला गया। १७ अक्टूबर, १०२४ ई० को महमूद ने अपनी राजधानी से प्रस्थान किया। २५ वर्ष पूर्व अपने प्रथम भारतीय युद्ध में जितनी सेना लेकर वह लड़ा था, इस बार वह अपने साथ उससे दूनी सेना लाया। अपने चुने हुये योद्धाओं के आगे-आगे उसने स्वयं कूच किया। इसके अतिरिक्त तुर्किस्तान तथा अन्य देशों से लूट के लोभ से ३०,००० स्वयं-सेवक उसके साथ हो लिये। २० नवम्बर, १०२४ ई० को वे मुल्तान पहुँचे। इस

बार उनका उद्देश्य था काठियावाड़ के तट पर स्थित सोमनाथ के मन्दिर को लूटना। धन तथा महत्व की दृष्टि से यह मन्दिर उन सब स्थानों से अधिक बढ़ा-चढ़ा था जिन्हें इससे पहले महमूद लूट चुका था। चूँकि मार्ग साँभर (अजमेर) तथा अन्हिलवाड़ (पाटन) होता हुआ दुर्गम रेगिस्तान के बीच से जाता था, इसलिये इस बार महमूद ने बड़ी सावधानी से तैयारियाँ कीं। "हर सैनिक को अपने साथ कई दिन के लिए चारा, पानी तथा भोजन ले चलने की आज्ञा दी गई और इसके अतिरिक्त रेगिस्तानी मार्ग तय करने के लिये महमूद ने स्वयम् अपने ३०,००० ऊँटों पर पानी तथा रसद लदवाई।" जनवरी १०२५ ई० में जब महमूद अन्हिलवाड़ पहुँचा तो उसने देखा कि राजा भीमदेव तथा अधिकतर नगर निवासी भाग गये हैं। जो बच रहे वे पराजित हुये और उन्हें लूट लिया गया। मार्ग में देवलवाड़ा में लोग इस विश्वास में अपने-अपने स्थानों पर डटे रहे कि महान् सोमनाथ की कृपा से उनके भक्तों का कोई बाल भी बाँका न कर सकेगा। इस दुखान्त नाटक के अन्तिम दृश्य को इब्न-अल-अथिर के शब्दों में वर्णन करना अधिक उपयुक्त होगा।

'जुलक़दा के मध्य में बृहस्पतिवार के दिन ईश्वर के मित्र सोमनाथ पहुँचे और समुद्र तट पर बना हुआ एक विशाल दुर्ग देखा, जिसके चरणों को समुद्र की लहरें प्रक्षालित करती थीं। दुर्ग के निवासी दीवालों के ऊपर बैठे हुये मुसलमानों को देख कर परिहास कर रहे थे और उनसे कह रहे थे कि हमारा देवता तुम्हारे एक-एक आदमी को काट डालेगा और सबका नाश कर देगा। दूसरे दिन शुक्रवार को आक्रमणकारियों ने आगे बढ़ कर धावा बोल दिया और जब हिन्दुओं ने मुसलमानों को लड़ते हुए देखा तो वे दीवालों से अपने-अपने स्थानों को छोड़ कर भाग गये। मुसलमानों ने दीवालों के सहारे अपनी सीढ़ियाँ लगादीं और शिखर पर पहुँच गये, तब उन्होंने धार्मिक युद्ध घोष द्वारा अपनी विजय की घोषणा की और इस्लाम की शक्ति का प्रदर्शन किया। तदुपरान्त भीषण नरसंहार प्रारम्भ हुआ और स्थिति ने विकराल रूप धारण कर लिया।

'हिन्दुओं का एक दल दौड़कर सोमनाथ के पास पहुँचा, देवता के सम्मुख अपने को फैंक दिया और उससे विजय की भीख माँगी। रात्रि होते ही युद्ध स्थगित हो गया। दूसरे दिन तड़के ही मुसलमानों ने फिर युद्ध आरम्भ कर दिया, हिन्दुओं का भयकर विध्वस किया और अन्त में उन सबको नगर से भगा कर सोमनाथ के मन्दिर में शरण लेने पर बाध्य किया। मन्दिर के फाटक पर भीषण नर-संहार हुआ। रक्षकों के दल के दल अपने गलों को हाथों से पकड़े हुये मन्दिर में पहुँचे, बिलख-बिलख कर रोये और सोमनाथ से प्रार्थना की, इसके बाद वे फिर युद्ध के लिये निकल कर आये और अन्त में मारे गये। बहुत थोड़े बच सके।-वे भी भाग निकलने के उद्देश्य से नावों में बैठकर समुद्र में कूद पड़े, किन्तु मुसलमानों ने उन्हें पकड़ लिया। कुछ मारे गये और कुछ डूब गये।'

मुख्य मूर्ति को तोड़ कर टुकड़े कर दिये गये और उन्हें गजनी, मक्का तथा बगदाद भेज दिया गया जिससे सच्चे मुसलमान उन्हें अपने पैरों के नीचे रौंद

सकें। 'मन्दिर का कोष पास ही में था और उसमें सोने तथा चाँदी की अनेक मूर्तियाँ थीं। उसके ऊपर रत्नजटित पर्दे लटक रहे थे; उनमें से प्रत्येक का मूल्य अत्यधिक था। मन्दिर में जो कुछ प्राप्त हुआ उसका मूल्य २,०००,००० दीनार था, उस सब पर अधिकार कर लिया गया। मरे हुओं की संख्या ५०,००० से अधिक थी।

इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दू भारत का पवित्रतम स्थान भ्रष्ट किया गया और लूटा तथा ध्वस्त किया गया। मूर्ति के स्नान के लिये प्रतिदिन गंगाजल लाया जाता था और हर ज्वार के साथ समुद्र मन्दिर की सीढ़ियों को स्नान कराता था। मन्दिर के व्यय के लिये १०,००० गाँव लगे हुए थे और फिर भी देश के सभी भागों से बहुमूल्य भेंटें आती रहती थीं। मन्दिर के घण्टे सोने की जंजीरों में लटके हुए थे जिनकी तौल २०० मन थी। 'देवता की पूजा तथा अतिथियों के सत्कार के लिये १,००० ब्राह्मण मन्दिर में कार्य करते थे और द्वार पर ५०० नर्तकियाँ गाया तथा नाचा करती थीं।' जकरिया-अल कजवीनी लिखता है कि सोमनाथ की मूर्ति उस स्थान की सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु थी।

'वह मन्दिर के बीच में स्थित थी और नीचे अथवा ऊपर से किसी चीज में सधी नहीं थी। हिन्दू उसका अत्यधिक सम्मान करते थे और मुसलमान अथवा काफिर जो भी उसे आकाश में लटकते हुए देखता विस्मय से चकित रह जाता था। जब कभी चन्द्र ग्रहण पड़ता हिन्दू उसके दर्शन के लिये जाया करते और एक लाख से भी अधिक की संख्या में वहाँ एकत्रित होते।

'सुल्तान महमूद ने अपने साथियों से पूछा यह मूर्ति बिना किसी सहारे के आकाश में सधी हुई है, इस आश्चर्य के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या विचार है? तब उनमें से बहुत-सों ने कहा कि कोई छिपी हुई चीज इसे साधे हुए है। सुल्तान ने एक आदमी को भेजा कि भाले से इसके चारों ओर तथा ऊपर और नीचे देखो, उसने ऐसा ही किया किन्तु कोई चीज न मिली। तब एक सेवक ने कहा कि यह मण्डप चुम्बक पत्थर का बना हुआ है और मूर्ति लोहे की है। कुशल-शिल्पियों ने ऐसी चतुराई से काम लिया है कि चुम्बक का किसी एक ओर भी दूसरी ओर से अधिक प्रभाव न पड़े। इसीलिये मूर्ति बीच में सधी हुई है। कुछ लोग इस मत से सहमत हुए और कुछ ने विरोध किया। विवाद शान्त करने के लिये सुल्तान से मण्डप के ऊपर के कुछ पत्थरों को हटाने की आज्ञा माँगी गई। दो पत्थरों के हटाये जाने पर मूर्ति का शिखर एक ओर को झुक गया, जब और अधिक पत्थर हटाये गये तो मूर्ति और अधिक झुक गई और अन्त में पृथ्वी पर गिर पड़ी।'

सोमनाथ के लूट के माल से लदा हुआ महमूद पश्चिम के मार्ग से सिन्ध में होता हुआ गजनी को लौट गया, मार्ग में उसे दो-एक कठिनाइयों का सामना ।। यद्यपि अब उसकी अवस्था ५० वर्ष से अधिक हो चुकी थी और

घर के निकट उपद्रव उसे घेरे हुए थे, फिर भी १०२७ ई० में उसने सिन्ध के जाटों को जिन्होंने पिछले वर्ष उसे कष्ट पहुँचाया था, दण्ड देने के उद्देश्य से अन्तिम आक्रमण किया। इसके साथ-साथ भारत में उसके कार्यों का अन्त हो गया। उसने केवल एक भारतीय प्रान्त—पंजाब—को अपने राज्य में मिलाया। उसके शासन-सम्बन्धी इतिहास के विषय में हम आगे लिखेंगे। यहाँ हम उस महान् बुतशिकन (मूर्ति-भंजक) के कार्यों का मूल्यांकन करेंगे।

महमूद का मूल्याङ्कन

हिन्दुस्तान के परवर्ती मुसलमान शासकों की भाँति महमूद के चरित्र के भी दो पक्ष थे। भारत में निर्दयतापूर्वक मन्दिरों की लूट करनेवाला सुल्तान अपने राज्य की प्रजा के लिये एक आदर्श सुसंस्कृत शासक था। कहा जाता है कि तिमूर की भाँति महमूद की मुखाकृति भी चेचक के दागों के कारण बहुत क्रूर हो गई थी और वह राजाओं जैसे हाव-भाव द्वारा अपने इस दोष को ढकने का प्रयत्न किया करता था। यह कहना सत्य होगा कि उसने भारत में जो आचरण किया उसमें उसके चरित्र की पहली विशेषता प्रतिबिम्बित हुई और उसके चरित्र का दूसरा पक्ष अपने राज्य में अपनी प्रजा के प्रति किये गये उसके व्यवहार में प्रकट हुआ। यद्यपि इस्लामी जगत में उसकी जो ख्याति थी, उससे हमारे ऊपर उतना सीधा प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि उसके इस देश में किये गये कार्यों से, फिर भी हमारे लिये उसके चरित्र के दूसरे पक्ष की उपेक्षा करना उचित नहीं होगा और इसके कारण भी स्पष्ट हैं।

जब १०२६ ई० में अपने अन्तिम तथा अत्यधिक दुःसाध्य आक्रमण के उपरान्त महमूद लौटकर गजनी पहुँचा और वहाँ के निवासियों की लोलुप दृष्टि के सामने अपनी लूट का अतुल धन फैलाकर प्रदर्शित किया, उस समय समस्त इस्लामी जगत उसकी प्रशंसा तथा जय-जयकार से गूँजने लगा। खलीफा ने उसे तथा उसके पुत्रों को नये सम्मानों तथा उपाधियों से विभूषित किया। यद्यपि महमूद का जीवन-चरित्र लिखनेवाले आधुनिक प्रबुद्ध भारतीय लेखक प्रोफेसर हबीब का विचार है कि "इस्लाम के अनुसार न तो आक्रमणकारी का कला-कृतियों के प्रति बर्बर आचरण ही उचित था और न उसके लूट के उद्देश्य ही।" किन्तु महमूद बुत-शिकन के समसामयिक लोग उसे निःसन्देह एक महान गाजी और अपने युग का महानतम मुस्लिम शासक समझते थे। यह प्रशंसा तथा सराहना किसी प्रकार से अतिशयोक्तिपूर्ण भी नहीं कही जा सकती। महमूद का साम्राज्य बगदाद खलीफा के साम्राज्य से भी अधिक विस्तृत था। खलीफा नाममात्र के लिये इस्लामी जगत का प्रमुख था और उसमें भी काहिरा तथा करडोवा के खलीफा उसके प्रभुत्व में साझीदार थे। घर के अधिक निकट खलीफ़ा के राज्य में तुर्की तथा अन्य सरदार साझीदार बन गये थे, जिनमें उस समय महमूद सबसे अधिक शक्तिशाली था। गजनी के शासक की शक्ति इतनी बढ़ गई

थी कि उसने अपने जाति के लोगों को ही आतंकित नहीं किया बल्कि खलीफा भी अपनी स्थिति को सकटपूर्ण समझने लगा। ई० बी० हैविल लिखते हैं "बगदाद को भी वह उसी भाँति बिना किसी सोच-विचार के लूट लेता जैसे उसने सोमनाथ को लूटा था, यदि उसके लिये यह काम उतना ही लाभदायक और सरल होता, क्योंकि जब खलीफा ने समरकन्द उसके हवाले करने से इन्कार किया तो उसने उसे मृत्यु की धमकी दी।" ऐसा शक्तिशाली शासक यदि प्रतिष्ठा का भूखा होता और यदि उसकी वृद्धि के साधन भी उसके पास होते तो वह केवल विजयों से ही सन्तुष्ठ नहीं हो जाता। महमूद बर्बर नहीं था, यद्यपि भारतीय आक्रमणों के समय वर्बरतापूर्ण कृत्य करने का अपराध उसके सिर पर था।

जैसा कि सात शताब्दियों बाद फ्रांस के लुई चौदहवें ने किया, महमूद ने भी अपनी राजधानी तथा दरबार को एक सौर-मण्डल का रूप दिया जिसका अधिष्ठाता सूर्य वह स्वयं था। ग़ज़नी को सुशोभित करने के लिये महान् शिल्पी, विद्वान्, कवि तथा कलाकार विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न भागों से आमन्त्रित किये गये। लेनपूल लिखते हैं, "नैपोलियन अपनी राजधानी पेरिस को सजाने के लिये विजित देशों से सर्वोत्तम कलाकृतियाँ लाया, महमूद ने इससे भी अच्छा काम किया, वह अपने दरबार को प्रकाशमान बनाने के लिये स्वयं कलाकारों और कवियों को ही ले आया। उसने ऑक्सस के नगरों से, कैस्पियन के तट से, ईरान और खुरासान से, पूर्वात्य साहित्यिक नक्षत्रों को अपनी सेवा में आमन्त्रित किया और उन्हें अपने प्रतापरूपी सूर्य के चतुर्दिक उसी प्रकार भ्रमण करने के लिये बाध्य किया—उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं—जैसे सूर्य के तेज मण्डल में अन्य नक्षत्र।" यहाँ पर हम इन नक्षत्रों में से कुछ ही का जो सबसे अधिक प्रकाशमान थे, उल्लेख कर सकेंगे। यदि हम उन्हें भारतीय दुर्बीन से देखें तो अलबरूनी उन सबको—शाहनामा के विख्यात रचयिता फिरदौसी को भी ढक लेता है। उसके बाद महमूद के सचिव इतिहासकार उतबी का स्थान था जिसके निजी जानकारी पर आधारित वर्णनों के लिये हम इतने ऋणी हैं। इनके अतिरिक्त बैहाकी का नाम भी उल्लेखनीय है जिसे लेनपूल ने 'पूर्वात्य मि० पैपीज़' कहा है। उसके गपशपयुक्त संस्मरण उतबी द्वारा प्रस्तुत किये गये नीरस चित्रों को अधिक रंगीन बना देते हैं।

इनके तथा अन्य लोगों और विशेषकर फिरदौसी के सम्बन्ध में मध्यकालीन भारतीय इतिहास के लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। प्रसंग से बाहर न जाते हुए, यहाँ हम केवल अलबरूनी के विषय में ही कुछ शब्द लिखेंगे। वह खीवा का निवासी था और ९७३ ई० में उसका जन्म हुआ था, इस प्रकार वह सुल्तान महमूद से दो वर्ष छोटा था। किन्तु महमूद की अपेक्षा वह अठारह वर्ष अधिक जीवित रहा और १०४८ ई० में उसकी मृत्यु हुई। वह विद्वान था और 'ज्योतिष, गणित, तिथिविज्ञान, गणित-सम्बन्धी भूगोल, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र

तथा धातुविज्ञान में पारगत था। हमारे लिये उसके 'भारतवर्णन' नामक ग्रन्थ का अधिक महत्त्व है, ग्रन्थ के विद्वान अनुवादक ने लिखा है कि "उस युग की खनखनाती हुईं तलवारों, जलते हुए नगरों और लूटे गये मन्दिरों की दुनियाँ के बीच यह पूर्णरूप से निष्पक्ष अनुसन्धान का एक चमत्कारपूर्ण द्वीप है।" इसमें हिन्दुओं के इतिहास, चरित्र, जीवनप्रणाली तथा रीतिरिवाज के सम्बन्ध में अलबरूनी ने जो कुछ देखा उसका अत्यन्त सावधानी और निष्पक्ष भाव से वर्णन किया है। अलबरुनी लिखता है कि, 'दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दू लोग चीजों के ऐतिहासिक क्रम की ओर अधिक ध्यान नहीं देते और अपने राजाओं का तिथि के अनुसार क्रम बताने में बहुत असावधान हैं, और यदि जानकारी के लिये उन पर दबाव डाला जाय, तो उनकी समझ में यह नहीं आता कि क्या कहें और निरपवाद रूप से किस्से कहानी गढ़ने लगते हैं।' इस अप्रिय आलोचना के लेखक ने हमारे पुराणों का अध्ययन किया था और हमारे दर्शन, विशेषकर भगवद्-गीता की प्रशसा की थी। उसमें उन्हें संस्कृत में पढ़ सकने की योग्यता थी। अपने स्वामी की भी अलबरुनी ने कम आलोचना नहीं की क्योंकि उसे नाश का वह ताण्डव पसन्द नहीं था जो महमूद ने भारत में रचा था। वह लिखता है कि हिन्दुओं की बिखरी हुईं हड्डियाँ, 'मुसलमानों के प्रति अत्यन्त गहरी घृणा को जीवित रखे हुये हैं। यही कारण है कि हिन्दुओं के विज्ञान देश के उन भागों से जिन्हें हमने जीत लिया है भाग कर काश्मीर, बनारस आदि अन्य स्थानों में चले गये हैं जहाँ हम नहीं पहुँच सकते।'

महमूद के सम्बन्ध में अब इससे अधिक और कुछ कहना शायद ही उपयुक्त हो। उसकी न्याय-प्रियता के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। सल्जूक वज़ीर निज़ामुलमुल्क (निजाम राज्य का प्रसिद्ध संस्थापक नहीं) जिसे लेनपूल ने मध्य-युगीन एशिया का सबसे अधिक बुद्धिमान तथा उच्चाशय राजनीतिज्ञ कहा है, लिखता है, "महमूद न्यायप्रिय शासक, विद्या का प्रेमी और उदार स्वभाव तथा शुद्ध धार्मिक विचारों का व्यक्ति था।" महमूद के इस मूल्याङ्कन के सम्बन्ध में हमें विवाद नहीं करना है, किन्तु निराश प्रेमी के इस विलाप को दुहराये बिना हम नहीं रह सकते, "वह सुन्दर हो तो, इससे मुझे क्या, यदि मेरे प्रति उसका व्यवहार सुन्दर नहीं है।" भारत के लिये तो महमूद लुटेरों के गिरोह का प्रतिभाशाली सरदार मात्र था।

महमूद के चरित्र का एक अन्य पहलू भी है, जिस पर उसके उत्तराधिकारियों के विषय में लिखने से पहले, विचार करना आवश्यक है। अपने राज्य को स्थायी बनाने के लिये महमूद ने क्या किया? कुछ भी नहीं, बल्कि उससे भी बुरा, क्योंकि उसने अपने साम्राज्य को अपने पुत्रों में बाँटने का भी विचार किया था। लेनपूल लिखते हैं, "महमूद महान् सैनिक था और उसमें अपार साहस तथा अथक शारीरिक तथा मानसिक शक्ति थी, किन्तु वह रचनात्मक तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ नहीं था। हमें ऐसे किन्हीं नियमों, संस्थाओं अथवा शासन-प्रणालियों

का पता नहीं है जिनकी उसने नींव डाली हो। अपने विशाल साम्राज्य में उसने केवल ऊपरी सुरक्षा तथा व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया, संगठन तथा एकता कायम करना उसकी योजना में सम्मिलित नहीं था। उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना दुर्बल था कि जैसे ही वह स्वयं अपने सतर्कतापूर्ण प्रयत्नों द्वारा उनकी रक्षा करने के लिये जीवित न रहा, वैसे ही वे फिर बिखर गये।" यद्यपि एलफिस्टन ने महमूद के अन्य गुणों की सराहना की है, तथापि उनका भी मत है कि "उसके भारतीय कार्य भी जिनके लिये उसने अपनी अन्य योजनाएँ त्याग दी थीं, किसी प्रकार के सगठन अथवा व्यवस्था की भावना का परिचय नहीं देते, वे इतने असम्बद्ध तथा अनिर्णायक थे कि हमें कहना पड़ता है कि उसमें ग्राह्य बुद्धि का सर्वथा अभाव था, अथवा हम यह मान लें कि उसके हृदय की कुत्सित भावनाओं ने उसकी बुद्धि को संकुचित कर दिया था।"

भारत तथा गजनवी वंश

इन परिस्थितयों में यह एक आश्चर्य की बात है कि महमूद की मृत्यु (१०३० ई०) के बाद ग़ज़नवी वश -१५० वर्ष से भी अधिक काल तक चलता रहा। फिर भी उसके उत्तराधिकारियों का वृत्तान्त बहुत संक्षिप्त है, क्योंकि उनमें कोई महत्त्वशाली व्यक्ति नहीं हुआ, मसूद के बाद तो कोई हुआ ही नहीं। इसके अतिरिक्त हमें उनके आन्तरिक युद्धों तथा कलहों से प्रयोजन नहीं है। १०३० से ११८६ ई० तक के युग की विशेषताओं का सार "फूट, नैतिक पतन तथा पराभव" इन तीन शब्दों में अन्तर्निहित है। महमूद के बाद इस वश में अपहरणकर्ता तुगरिल (१०५२ ई०) समेत पन्द्रह शासक हुए। उनमें से केवल एक इब्राहीम ने चालीस वर्ष (१०५९-९९ ई०) राज्य किया, बहरामशाह ने पैंतीस वर्ष (१११८-५१ ई०) शासन किया, किन्तु उसके हाथों में बहुत कम शक्ति थी। इस वंश का अन्तिम सदस्य खुसरू मलिक नाममात्र के लिये छब्बीस वर्ष तक (११६०-८६ ई०) सुल्तान रहा। इससे बहुत पहले सल्जूक तुर्कों ने साम्राज्य को अभिभूत करना आरम्भ कर दिया था। ईरान महमूद की मृत्यु के बाद दस वर्ष के भीतर ही सदैव के लिये साम्राज्य से अलग हो गया। उस विशाल साम्राज्य में से केवल गजनी और पंजाब के प्रान्त शेष रह गये। अन्त में, महमूद के भारतीय राज्य का भी बहुत-सा भाग हाथ से निकल गया, हिन्दू राजाओं ने उसमें से जितना बन पड़ा हड़प लिया। किन्तु एक बात याद रखने की है, मसूद से लेकर खुसरू मलिक तक गजनवी वंश के सभी सुल्तानों के लिये उनके कष्टों तथा विपत्तियों के समय, भारत ही शरणस्थान सिद्ध हुआ।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, महमूद ने अपने साम्राज्य को अपने पुत्र मसूद तथा मुहम्मद के बीच बाँटने का विचार किया था। मुहम्मद को अन्धा करके कारागार में डाल दिया गया और मसूद खलीफा के आशीर्वाद से जिसे उसने अपार धन भेंट किया था, सिंहासन पर बैठा। ऐसा प्रतीत होता है गजनी का नया

सुलतान पराक्रम में भीम के सदृश था। किन्तु रुस्तम के समान यशस्वी होने पर भी १०४० ई० में उसे सल्जूक तुर्कों के सामने झुकना पड़ा; तुगरिलबेग ने मर्व के निकट दन्दनकान के युद्ध में उसे परास्त करके ईरान पर अधिकार कर लिया। मसूद ने साम्राज्य की इस हानि को दरबार के वैभव में वृद्धि करके पूरा किया।

ग़ज़नी का ऐश्वर्य

बुतशिकन महमूद के राज्य काल में ग़ज़नी का ऐसा रूपान्तर हो गया था कि "उसकी गणना खिलाफत के सबसे अधिक वैभवपूर्ण नगरों में होने लगी थी।" इस अलीबाबा ने अपने चालीस से अधिक गुलामों की सहायता से ग़ज़नी में कठोर पत्थर तथा संगमरमर की एक मस्जिद बनवाई थी और उसका नाम 'स्वर्ग-वधू' रक्खा था। बहुमूल्य कालीनों, दीवटों तथा सोने और चाँदी के अन्य आभूषणों से उसे सुसज्जित किया गया था; फरिश्ता लिखता है कि वह इतनी सुन्दर थी कि उसे देख कर हर दर्शक विस्मय से चकित रह जाता था। सुलतान की इस सुरुचि को देख कर अमीर लोग नगर को सुसज्जित करने के लिये अपने निजी महलों तथा सार्वजनिक भवनों के निर्माण में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने लगे। "इस प्रकार थोड़े ही समय में राजधानी सुसज्जित मस्जिदों, ड्यौढ़ियों, फुव्वारों, जलकुण्डों, नहरों तथा हौजों से सुशोभित होने लगी।" सभी लेखकों के वृत्तान्तों से पता लगता है कि महमूद का दरबार शान शौकत तथा गम्भीरता दोनों की दृष्टि से खलीफाओं के दरबार से होड़ करता था। ग़ज़नी में उसने एक विश्व-विद्यालय की स्थापना की जिसमें सभी भाषाओं की दुष्प्राप्य तथा श्रेष्ठ पुस्तकें संग्रहीत की गईं। उसने प्रकृति की विचित्र वस्तुओं का एक संग्रहालय भी संगठित किया। इन विशाल संस्थाओं के व्यय के लिये महमूद ने बहुत-सा धन धर्मस्व के रूप में दे रक्खा था जिसमें से अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को भत्ते दिये जाते थे। संक्षेप में, उसने विद्वानों तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति इतनी दानशीलता प्रदर्शित की कि "जितनी साहित्यिक प्रतिभा उसकी राजधानी में संग्रहीत हो गई उतनी एशिया का कोई भी शासक कभी एकत्र नहीं कर पाया था।" मसूद को आमोद-प्रमोदमय उत्सव मनाने के लिय ऐसी विरासत मिली थी। यह सब कुछ स्वर्णभूमि भारत के कारण था जिससे इतनी विलासिता और ऐश्वर्य सम्भव हो सका। भारतीय कलाकारों ने विचार प्रदान किये जिन्हें उन भारतीय शिल्पियों ने अपने मुसलमान स्वामियों के लिये कार्यान्वित किया जिन्हें बन्दी बना कर ग़ज़नी ले जाया गया था, हजारों की संख्या में दास बना कर ले जाये गये भारतीयों की सेवा के कारण ग़ज़नी के चपल तथा क्रियाशील तुर्कों, अफगानों, अरबों और ईरानियों में निर्जीव कर देने वाली आदतें उत्पन्न हो गई, अन्त में, उन भारतीय स्त्रियों ने जिन्हें सहस्रों की संख्या में दास बनाकर ले जाया गया था, अपने दुराचारियों की शक्ति क्षीण कर दी और उनके पतन का एक कारण बनीं। महमूद

के उत्तराधिकारियों की यह दशा थी, जिस समय एक अन्य अफगान नगर गोर अथवा गुर में शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी उठ खड़े हुए। इन दोनों नगरों के बीच के संघर्ष ११५५ ई० तक पराकाष्ठा को पहुँच गये, जब कि ग़ोर के अलाउद्दीन हुसैन ने अग्नि और तलवार से ग़ज़नी का सत्यानाश करके जहाँसोज़ की पदवी प्राप्त की। घृणा की यह लहर इतने भयकर प्रकोप से आई कि महमूद की सुन्दर राजधानी उसमें डूब गई और बुतशिकन ने जितने अत्याचार जीवन भर में किये होंगे, वे सब मात हो गये। सहस्रों की संख्या में पुरुषों का संहार कर दिया गया और स्त्रियों तथा बच्चों को दास बना लिया गया। "उन श्रेष्ठ भवनों का जिनसे सुल्तानों ने अपनी वैभवपूर्ण राजधानी को सुसज्जित किया, कदाचित् एक पत्थर भी शेष न रहा जो उसके खोये हुए ऐश्वर्य की कहानी सुना सकता। यहाँ तक कि घृणा के भाजन उस वंश की कब्रें भी खोद डाली गई और शाही-हड्डियों को कुत्तों के सामने फेंक दिया गया—किन्तु अफगानों के प्रतिशोध की ज्वाला ने भी महमूद की कब्र को जो मुसलमान सैनिकों के लिये पूजा की वस्तु थी छोड़ दिया। आधुनिक ग़ज़नी नगर से दूर पर केवल वह कब्र और दो ऊँची-ऊँची मीनारें ही ग़ज़नी के अतीत गौरव की ओर इंगित करती हैं। उन मीनारों में से एक पर बुतशिकन की गूँजनेवाली उपाधियाँ अंकित हैं और संगमरमर की कब्र पर यह प्रार्थना उत्कीर्ण है : महान् अमीर महमूद पर ईश्वर कृपा करे।"

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
९६९	काहिरा में पृथक फातीमी खिलाफत की स्थापना।
९७३–१०४८	अलबरूनी, भारत का वर्णन करता है।
९९३–४	दिल्ली नगर की स्थापना।
१०१६	कैनूट का इंगलैण्ड, डेनमार्क तथा नार्वे का राजा होना।
१०५२–३	चोलों तथा चालुक्यों के बीच कोप्पम का महान युद्ध।
१०६६	विजयी विलियम का इंगलैण्ड में आगमन।
१०७१	सल्जूक तुर्कों की अधीनता में इस्लाम का पुनरुत्थान।
१०७६–११२६	चालुक्य विक्रमादित्य की विजय यात्राएँ; विक्रम-काल का आरम्भ (१०७६ ई०)।
१०८४	रौबर्ट गिस्कार्ड द्वारा रोम की लूट।
१०८९–११०१	'काश्मीर के नीरो' हर्ष के अत्याचार।
१०९५	पोप अर्बन द्वितीय प्रथम धर्मयुद्ध का श्रीगणेश करता है।
१०९६–११४३	गुजरात का सिद्धराज मुसलमानों को संरक्षण देता और खम्बात के झगड़े में भाग लेने वाले हिन्दुओं को दण्ड देता है।
१११२–५५	महानतम गहरवाड़ राजा गोविन्दचन्द्र मुसलमानों के आक्रमण से

बनारस की रक्षा करता है। उसका राज्य कन्नौज से पटना तक फैला हुआ है।

११३० विष्णुवर्धन हौयसल कदम्बों की राजधानी बनवासी को लूटता है।
११३०-८६ वारंगल के काकतीय, चोलों तथा यादवों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।
११४७ द्वितीय धर्म युद्ध।
११५५ अलाउद्दीन गोरी (जहाँसोज़) ग़ज़नी का नाश करता है।
११६०-७ बिज्जल कालचुरि चालुक्यों के सिंहासन का अपहरण करता है। लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना।
११६९ सलादीन मिश्र का सुल्तान।
११८२ पृथ्वीराज चन्देलों की राजधानी महोबा को लूटता है।
११८६ ग़जनी वंश का अन्त।
११८७ सलादीन जेरूसलम को हस्तगत कर लेता है। दक्षिण में यादव स्वतन्त्र हो जाते हैं।
११८९ तीसरा धर्म-युद्ध।
१२०२ चौथा धर्म-युद्ध।
१२०६ एबक द्वारा दिल्ली सल्तनत की स्थापना।
१२१४ चिनगिजखाँ का पैकिंग पर अधिकार।
१२१५ मैग्ना कार्टा (अधिकार पत्र) पर राजा जॉन के हस्ताक्षर।
१२१६-७५ पाण्ड्य लोग चोलों, काकतियों तथा हौयसलों की शक्ति को आच्छादित कर लेते हैं।
१२१८ चिनगिजखाँ का ख़्वारिज़म में प्रवेश।
१२२०-३५ हौयसल, चोलों की शक्ति को क्षीण कर देते हैं।
१२२१-२२ चिनगिजखाँ का भारत पर आक्रमण। पांचवाँ धर्म युद्ध।

४

गुलामों का राज्यारोहण

मुस्लिम भारत के निर्माता

मुस्लिम सत्ता का वास्तविक संस्थापक दूसरा आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी (११७५-१२०६ ई०) था। अरबों तथा तुर्कों ने केवल मार्ग ढूँढ निकाला था। उन्होंने सिन्ध, मुलतान तथा पंजाब को जीत कर मुस्लिम साम्राज्यरूपी भवन के लिये पहले पत्थर काट कर तैयार कर दिये थे। उसकी स्थायी नींव अभी नहीं पड़ी थी। इमादुद्दीन अथवा महमूद गज़नवी ने नींव डालने का प्रयत्न भी नहीं किया था। महमूद तथा उसके उत्तराधिकारियों ने पंजाब में जो सत्ता कायम की उसने जैसा कि अभी हम देखेंगे, गोरियों के भारत में प्रवेश करने के लिये देहरी के पत्थर का काम किया। इस कार्य के पूरे होते ही गज़नी के विध्वंसक मुस्लिम भारत के निर्माता बन गये।

कुतुबुद्दीन ऐबक पहला गुलाम नहीं था जो सिंहासन पर बैठा। उससे पहले महमूद ग़ज़नवी का पिता सुबुक्तगीन तथा अन्य अनेक गुलाम ऐसा कर चुके थे। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारत में इस प्रतिष्ठा का उपभोग करने वाला मुहम्मद गोरी का गुलाम कुतुबुद्दीन पहला व्यक्ति था। जैसा कि हम अगले पृष्ठों में देखेंगे, उसने केवल सिंहासन की पूर्ति ही नहीं की, बल्कि दिल्ली की मुस्लिम सल्तनत का निर्माण किया, जो समय आने पर खूब फली फूली। उसके बाद दो महान गुलाम, इल्तुतमिश तथा बलबन, सिंहासनासीन हुए; उन्होंने दिल्ली के प्रथम मुस्लिम राजवंश को लज्जास्पद नाम (गुलाम) ही नहीं प्रदान किया, बल्कि सदैव के लिये यह सिद्ध कर दिया कि व्यक्ति का पद तो केवल गिन्नी पर मुद्रांकन के सदृश है, असली सोना तो व्यक्ति स्वयं है। तथाकथित गुलाम सुल्तानों ने शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी की मृत्यु (१२०६ ई०) से लेकर जलालुद्दीन फ़ीरोज़ खलजी के सिंहासनारोहण तक (१२९० ई०) अस्सी वर्ष हिन्दुस्तान में प्रभुत्व-शक्ति का उपभोग किया। यह युग भारत में

मुस्लिम साम्राज्य के बीजारोपण का काल था। इसके बाद के सौ वर्षों में, गुलामों के उत्तराधिकारियों के समय में,—खलजी (१२९०-१३२० ई०), और तुग़लक (१३२१-८८ ई०)—इस्लाम की पताका भारत के अधिकांश पर फहरायी।

ग़ज़नवियों की विरासत

महमूद ग़ज़नवी ने पंजाब को निश्चित रूप से अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। किन्तु सूबेदार अरियारुक जिसे उसने लाहौर में नियुक्त किया था, विद्रोही निकला, इसलिये मसऊद ने उसे हटाकर दूसरे को नियुक्त कर दिया। अहमद नियाल्तगीन जो स्वर्गीय सुलतान का बड़ा विश्वासपात्र था, इस पद के लिये चुना गया। सावधानी के विचार से अहमद को भारतीय प्रान्त का केवल सैनिक-भार सौंपा गया, असैनिक प्रशासन क़ाज़ी शिराज़ के ही हाथों में रहने दिया गया। एक गुप्तचर विभाग की भी स्थापना की गई जिसके प्रमुख के पास सुलतान तथा मन्त्रियों की सब आज्ञायें भेजी जातीं और जो प्रत्येक घटना की सूचना अपने स्वामी के पास भेजा करता था। दोहरी सावधानी के लिये सूबेदार के पुत्र को ग़ज़नी में बन्धक के रूप में रख लिया गया और वज़ीर ख्वाजा मैमन्दी ने नियाल्तगीन के पास निम्नांकित विचित्र सन्देश भेजा :—

'तुम दोनों को चाहिये कि दरबार को कष्ट न दो। तुम जो कुछ भी मुझे लिखो वह विस्तार से लिखो जिससे निश्चित उत्तर दिया जा सके। सुलतान ने कुछ दाइलामी सरदारों को तुम्हारे पास भेजना उचित समझा है जिससे वे दरबार से दूर रह सकें, क्योंकि वे विदेशी हैं, इनके अतिरिक्त कुछ सन्देहास्पद व्यक्तियों तथा उद्दण्ड गुलामों को भी भेजा जाता है। जब कभी तुम युद्ध के लिये जाओ, इन्हें अपने साथ ले जाओ, किन्तु इस बात का ध्यान रक्खो कि वे लाहौर की सेना में न मिलने पायें और न उन्हें कभी शराब पीने और न पोलो खेलने देना। उन पर नजर रखने के लिये गुप्तचर तथा सम्वाददाताओं की नियुक्ति करो, इस कर्त्तव्य के पालन में कभी असावधानी नहीं होनी चाहिये। ये सुलतान की गुप्त आज्ञाएँ हैं, इन्हें प्रकाशित न किया जाय।'

इस प्रकार की व्यवस्था हमें विचित्र भले ही मालूम पड़े, किन्तु नियाल्तगीन के व्यवहार को देखते हुए वह सर्वथा उचित थी। उसकी महत्त्वाकांक्षी योजनाओं का समाचार शीघ्र ही ग़ज़नी पहुँचा। वह महमूद के वीरतापूर्ण कार्यों का अनुकरण करने के लिये उत्सुक था इसलिये एक सेना लेकर उसने बनारस पर आक्रमण कर दिया और हिन्दुओं के उस पवित्र नगर को लूटा तथा लूट का अपार धन लेकर लाहौर को लौट गया। यदि नियाल्तगीन की विद्रोही भावनाओं के अन्य चिन्ह न प्रकट हुए होते, तो ग़ज़नी के अधिकारी उसके इस साहसिक कार्य पर आपत्ति न करते। उसने मसूद के पास अपनी सफलताओं के अतिरञ्जित समाचार भेजे, किन्तु लूट का कोई भाग ग़ज़नी नहीं पहुँचाया। उसी समय

संख्या में अपनी सेना में भर्ती कर लिया है और धोखा देने के लिये अपने को महमूद का पुत्र घोषित कर दिया है। इसलिये, इससे पहले कि वह मसूद की आधीनता का जुआ उतार फेंकता, उसके विरुद्ध कार्यवाही करना आवश्यक होगया। यह काम तिलक नामक एक हिन्दू सेनानायक को सौंपा गया।

हिन्दू मूर्तियों को तोड़ने वाले महमूद को हिन्दू सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती करने में कोई आपत्ति नहीं थी। ग़ज़नवियों के शासन-काल में हमें सदैव ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि हिन्दू लोग खुलकर अपने विजेताओं के युद्धों में भाग लेते थे। उनमें से बहुत कम को जिनका हम पहले ज़िक्र कर आये हैं, मुसलमान बनाया गया था। फरिश्ता लिखता है कि महमूद ने सिवन्दराय जैसे अनेक सरदारों को जिन्होंने इस्लाम अङ्गीकार नहीं किया था, उनकी अश्वारोही सैनिक टुकड़ियों सहित अपनी सेना में नौकर रख लिया था। नीच जाति के हिन्दुओं के लिये जिन्हें अपने जातिमूलक समाज में उच्चपद नहीं मिल सकते थे, विशेषकर नये स्वामियों की आधीनता में उन्नति के अगणित मार्ग खुले हुए थे। तिलक ऐसे ही हिन्दुओं में से एक था। वह नाई की सन्तान था। फिर भी उसकी आकृति सुन्दर थी, और बातचीत में वह प्रत्युत्पन्नमति था। इसके अतिरिक्त वह हिन्दी तथा फ़ारसी दोनों में सुलेख लिख सकता था। मसूद उसे एक गुणग्राहक स्वामी मिल गया जिसने उसे अपना निजी सचिव नियुक्त किया, हिन्दुओं से व्यवहार करते समय सुलतान उससे सरकारी दुभाषिये अथवा व्याख्याकार का काम लिया करता था 'शाही अनुग्रह के चिन्ह-स्वरूप उसे सोने से कढ़ा हुआ एक वस्त्र, एक रत्नजटित सोने का हार, एक शामियाना और एक छत्र प्रदान किया गया था, उसके उच्च सरकारी पद पर प्रतिष्ठित होने की घोषणा करने के लिये हिन्दू परिपाटी के अनुसार उसके निवास स्थान पर नगाड़े बजाये गये और सुनहरी शिखरों वाले ध्वज फहराये गये थे।'

तिलक के इस उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने का मुख्य कारण मसूद की स्वार्थपरता तथा निजी ओछापन था, न कि उसकी विचारपूर्ण तथा उदार नीति। फिर भी यह स्मरण रखने की बात है कि यह पहला उदाहरण था जब गाज़ी महमूद—जिसने मूर्तिपूजक हिन्दुओं के विरुद्ध जिहाद का व्रत लिया था—के पुत्र ने एक ऐसे काफिर के साथ जिसने इस्लाम अंगीकार नहीं किया था, इस प्रकार का व्यवहार किया। अब उसे एक विद्रोही ईश्वर-मित्र के विरुद्ध युद्ध में प्रयोग किया जा रहा था।

१०३३ ई० के मध्य में—जिस वर्ष एक नाशकारी अकाल पड़ा और भयंकर ताऊन फैला, जिसका प्रकोप फरिश्ता के अनुसार मैसोपोटामियाँ से भारत तक था और जिसके कारण अनेक जिले ऊजड़ हो गये थे—तिलक ने सेना लेकर हिन्दुस्तान के लिये कूच किया, जहाँ पहले से ही काज़ी शिराज और नियाल्तगीन नामक ग़ज़नी के दो पदाधिकारियों के समर्थकों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया था। हिन्दू

सेनापति ने पहली ही झपट में नियालतगीन को परास्त किया; विद्रोही सूबेदार युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ा हुआ। तिलक ने उसके सिर के लिये ५००,००० दिरहाम का पुरस्कार घोषित किया; जाट शीघ्र ही उसे काट कर ले आये। इस सफलता से प्रोत्साहित होकर मसूद ने स्वयं अपना एक बहुत पहले किया हुआ प्रण पूरा करने के लिये हाँसी पर (हिसार से ११ मील) आक्रमण कर दिया। इस चढ़ाई के दौरान में ही वह रोगग्रस्त हो गया। अपने असंयत जीवन पर उसे पश्चाताप हुआ और जैसा कि पाँच शताब्दियों बाद एक अधिक प्रसिद्ध अवसर पर बाबर ने किया, उसने सबके सामने मदिरापान त्याग दिया और मदिरापात्र झेलम में फिकवा दिये, तथा अपने पदाधिकारियों को भी इसी प्रकार का व्रत धारण करने पर बाध्य किया। अन्त में दुर्ग जिसे हिन्दू अभेद्य समझते थे और जिसकी उन्होंने वीरतापूर्वक रक्षा की, हस्तगत कर लिया गया और उसके बाद सदैव की भाँति वही नर-संहार, लूट और दासता का ताण्डव रचा गया। लूट का धन सैनिकों में वितरित कर दिया गया। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी इस आक्रमण का परिणाम नाशकारी हुआ। मसूद की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर सल्जूक तुर्कों ने ग़ज़नी राज्य पर आक्रमण कर दिया, मसूद को १०४० ई० में हिन्दुस्तान की ओर भागना पड़ा। मार्ग में स्वयं उसी के आदमियों ने विद्रोह कर दिया, उसको बन्दी बना लिया और अन्त में १०४१ ई० में उसकी हत्या कर दी।

मसूद के उत्तराधिकारियों के इतिहास का कुछ अंशों में हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। यहाँ पर हम केवल भारत से सम्बन्धित कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे। तिलक द्वारा नियालतगीन की पराजय के बाद मसूद के दूसरे पुत्र मजदूद को पंजाब का शासन-भार सौंप दिया गया था (१०३६ ई०)। जब १०४१ ई० में मसूद की उसके भाई मुहम्मद द्वारा जिसके पक्ष में विद्रोह हुआ था, हत्या कर दी गई तो मजदूद को हटाकर उसके चचेरे भाई नामी को पंजाब का शासक नियुक्त किया गया। किन्तु जिस समय मसूद का ज्येष्ठ पुत्र मादूद अपने चाचा के विरुद्ध घातक संघर्ष में संलग्न था, उस समय मजदूद (मादूद का छोटा भाई) ने पंजाब में थानेश्वर के महत्वपूर्ण नगर पर अधिकार कर लिया था और दिल्ली पर आक्रमण करने वाला था। इसी बीच में ग़ज़नी के सिंहासन के लिये चल रहा युद्ध मादूद के पक्ष में समाप्त हो गया और उसने पंजाब की ओर ध्यान दिया। उसे अपने पराजित चाचा के पुत्र नामी से छुटकारा पाकर ही सन्तोष नहीं हुआ, बल्कि वह अपने अधिक क्रियाशील भाई को भी सन्देह की दृष्टि से देखने लगा। किन्तु मजदूद की सहसा मृत्यु हो गई और पंजाब पर मादूद का निष्कण्टक अधिकार स्थापित होगया, यद्यपि उस प्रान्त पर उसकी सत्ता झिलमिल ही थी।

दो वर्ष उपरान्त दिल्ली के राजा महिपाल ने हाँसी, थानेश्वर और काँगड़ा को पुनः हस्तगत कर लिया और लाहौर तक धावा बोल दिया (१०४३-४४ ई०) किन्तु नगर-रक्षकों की तत्परता के कारण संकट टल गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मादूद ने पंजाब का शासन-भार अपने दो पुत्रों—महमूद और मंसूर को

को सौंपा, इसके अतिरिक्त उसने ग़ज़नी के शक्तिशाली कोतवाल बूअलीहसन को हिन्दुओं के विरुद्ध भेजा। हसन अपना कार्य आरम्भ करने वाला ही था कि दरबारी कुचक्रों के कारण उसे वापस बुला लिया गया और उसका वध कर दिया गया। इसके उपरान्त १०४६ ई० में मादूद का देहान्त हो गया। उसके मरते ही उत्तराधिकार के लिये युद्धों का ताँता लग गया जिससे गजनी के शासक इब्राहीम के राज्यारोहण के समय तक (१०५६ ई०) भारत की ओर ध्यान न दे सके। इस बीच की केवल महत्वपूर्ण घटना यह थी कि नूश्तिगीन नामक एक योग्य पदाधिकारी को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया गया (१०४६ ई०)। उसने काँगड़ा के दुर्ग को पुनः हस्तगत कर लिया और पंजाब में सुव्यवस्था पुनः स्थापित करने को ही था कि तुर्गारिल के अपहरण (१०५२ ई०) के कारण उसे शीघ्र ही गजनी को लौटना पड़ा।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं ग़ज़नवी वंश में इब्राहीम का शासन-काल (१०५६-६६ ई०) सबसे अधिक लम्बा था। इस युग में उसके राज्य में पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्था रही, इसलिये वह भारत की ओर ध्यान दे सका। १०७६ ई० में उसने पंजाब की दक्षिणी सीमा को पार किया और अजुधन (पाकपटन) तथा रूपाल के नगरों पर अधिकार कर लिया। एक उल्लेख आता है कि इस आक्रमण के दौरान में वह पश्चिमी तट पर स्थित एक पारसी उपनिवेश (नवसारी ?) तक जा पहुँचा था, इस दृष्टि से उसका यह अभियान और भी अधिक स्मरणीय है। इब्राहीम की मृत्यु के उपरान्त उसका तेईसवाँ पुत्र मसूद तृतीय सिंहासन पर बैठा और उसने सत्रह वर्ष तक (१०६६-१११५ ई०) शासन किया। कहा जाता है कि उसके शासन-काल में लाहौर के तुग़ातीगीन ने गंगा के उस पार तक धावा मारा, किन्तु इस आक्रमण के ब्यौरे का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। उसके बाद फिर एक बार पारिवारिक संघर्षों की बाढ़ आई जिसके दौरान में एक सुल्तान अर्सलाँशाह को कुछ समय के लिये भारत में शरण लेनी पड़ी, किन्तु कुछ ही समय बाद वह घर को लौट गया और मार डाला गया। उसका उत्तराधिकारी बहरामशाह हुआ जिसके शासन काल में ग़ज़नी का सर्वनाश हुआ (११५५ ई०), इसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में पंजाब में बाहलीम के विद्रोह का अधिक महत्व है। इस पदाधिकारी को अर्सलाँशाह ने प्रान्त के सूबेदार के पद पर नियुक्त किया था, उसने बहरामशाह का प्रभुत्व स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। १११६ ई० में वह पराजित हुआ और पुनः अपने पद पर नियुक्त कर दिया गया, उसने पंजाब की सीमाओं पर अनेक उद्दण्ड हिन्दू सरदारों का दमन किया। नागौर में उसने अपनी शक्ति जमा ली और फिर विद्रोही हो गया। बहराम ने उसका पीछा किया, किन्तु निकल भागने का प्रयत्न करते समय वह मुल्तान के निकट अपने दो पुत्रों समेत दलदल में धँस कर मर गया। सर वोल्जले हेग लिखते हैं कि, "बाहलीम स्मरण रखने योग्य है क्योंकि उसने उन प्रान्तों पर मुस्लिम सत्ता स्थापित की जिन्होंने पहले कभी महानतम ग़ज़नवी सुल्तानों

की भी अधीनता नहीं स्वीकार की थी। नागौद लाहौर के दक्षिण में २०० मील की दूरी पर स्थित है, और कहा जाता है कि जब बाहलीम ने बहराम के विरुद्ध प्रस्थान किया उस समय उसके साथ उसके दस पुत्र थे जिनमें से प्रत्येक एक एक जिले अथवा प्रान्त पर शासन करता था।"

अलाउद्दीन गोरी द्वारा ग़ज़नी का विध्वंस होने के उपरान्त बहराम अपनी मृत्यु से पहले केवल एक बार अपनी राजधानी को लौट सका; ११५२ ई० में भारत की सीमाओं पर एक शरणार्थी के रूप में उसका देहान्त हो गया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र खुसरूशाह हुआ किन्तु खुरासान के तुर्कमानों ने उसे ग़ज़नी से मार भगाया; भागकर उसने लाहौर में शरण ली और वहीं ११६० ई० में मर गया। बुतशिकन महमूद का अन्तिम वंशज खुसरू मलिक लाहौर में सिंहासन पर बैठा, क्योंकि उसके पूर्वजों की राजधानी सदा के लिये उसके परिवार के हाथों से निकल चुकी थी। "वह कोमल तथा अतिशय विलासी प्रवृत्ति का सुल्तान था और राजसत्ता उसे खलती थी। उसके छोटे से राज्य के जिलों के अधिकारी स्वतंत्र शासकों जैसा आचरण करते थे, किन्तु उसे इसकी कोई चिन्ता न थी, जब तक आनन्द उड़ाने के साधन उसे उपलब्ध थे।" एक के बाद एक जिले उसके अधिकार से निकलते गये और अन्त में ११८६ ई० में मुहम्मद गोरी ने लाहौर को भी हस्तगत कर लिया। खुसरू मलिक तथा उसका पुत्र बहराम फीरोज़कोह (ग़ोर) को भेज दिये गये जहाँ पाँच वर्ष के कारावास के उपरान्त उनका वध कर दिया गया। इस प्रकार सुबुक्तगीन तथा महमूद के वंश का जिसने दो शताब्दियों (९७७-११८६ ई०) तक शासन किया था, अन्तिम सदस्य इस संसार से चल बसा। पंजाब पर ग़ज़नवियों का १००१ से ११८६ ई० तक आधिपत्य रहा।

तीसरा मुस्लिम आक्रमणकारी

मुहम्मद गोरी भारत पर आक्रमण करने वाला तीसरा मुसलमान था। वह विजय करने तथा विजित प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित करने के उद्देश्य से आया, जबकि उसके पूर्वाधिकारी इमादुद्दीन तथा महमूद मुख्यतया दण्ड देने तथा लूटने के उद्देश्य से आये थे। वह ग़ज़नी का विध्वस करने वाले अलाउद्दीन गोरी का भतीजा था। वह स्वयं ग़ज़नी पर (११७३-४ से) तथा उसका भाई गियासुद्दीन गोर पर (११६३ से) शासन करते आये थे। ऐसा प्रतीत होता है कि भूतपूर्व ग़ज़नवी वंश के विपरीत गोर वंश अफगान था, यद्यपि कुछ लोगों का विश्वास है कि वे तुर्क अथवा ईरानी रहे होंगे। जेठे भाई गियासुद्दीन ने अपने पूर्वजों से प्राप्त पश्चिमी प्रदेशों से ही सन्तोष कर लिया था, किन्तु छोटे भाई मुईज़ुद्दीन मुहम्मद ने ग़ज़नी को आधार बनाकर हिन्दुस्तान की ओर जिसे पहले दो बार जीता जा चुका था, अपनी महत्वाकांक्षापूर्ण दृष्टि फेरी।

सबसे पहले सिन्ध, मुल्तान तथा पंजाब के तीन मुस्लिम प्रान्तों को विजय किया गया। मुल्तान ११७५ ई० में समुद्र तक सिन्ध का प्रान्त ११८२ ई० में; और

लाहौर ११८६ में हस्तगत कर लिया गया। अपने जीवन के शेष बीस वर्षों में (११८६–१२०६ ई०) मुहम्मद ने अपने लिये एक साम्राज्य का निर्माण कर लिया जो पश्चिम में ग़ज़नी के पूर्व में गौड़ तक फैला हुआ था, किन्तु उसने कोई औरस उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा जो उसके बाद उसके साम्राज्य पर शासन कर सकता। यह भाग्य उसके गुलामों को प्राप्त हुआ।

युद्ध के तीस वर्ष

मुहम्मद ग़ोरी के प्रारम्भिक कार्य भविष्य के लिये उतने आशापूर्ण नहीं थे जितने कि दो सौ वर्ष पूर्व बुतशिकन महमूद के। उसकी भारत में अन्तिम विजय का जितना श्रेय स्वय उसके साहस और तत्परता को था उतना ही उसके गुलामों को भी। यद्यपि उसे ११७५ ई० में मुलतान के इस्लाम-द्रोही शासक के विरुद्ध आक्रमण में सफलता मिली, किन्तु यह उसकी नीचतापूर्ण चाल का परिणाम था न कि खुले युद्ध में पराक्रम दिखलाने का। उदाहरण के लिये उच में उसने भट्टी राजा की स्त्री से मिलकर कुचक्र रचे और उसे अपनी पटरानी बनाने का वचन देकर उसके अप्रिय पति का बध करवा दिया। किन्तु अन्त में उसने उस पतिद्रोही स्त्री को सकटापन्न अवस्था में ही त्याग दिया। ११७८ ई० में मुहम्मद ने गुजरात में स्थित बघेलों की राजधानी अन्हिलवाड़ को हस्तगत करने का प्रयत्न किया किन्तु भारी क्षति उठा कर उसे पीछे लौटना पड़ा। दूसरे वर्ष उसने ग़ज़नवी मलिक खुसुरू के सूबेदार के दुर्बल हाथों से पेशावर छीन लिया और ११८१ ई० में लाहौर के पास आ धमका और अन्त में ११८६ ई० में उस पर अधिकार कर लिया। यहाँ पर भी मुहम्मद ने ऐसे नीच तरीकों से काम लिया जिनकी इस श्रेष्ठ रजपूती शूरत्व के देश में सदैव निन्दा होनी चाहिये। खुसरू मलिक को अपने पुत्र को बन्धक के रूप में समर्पण करने के लिये बाध्य किया गया। इसके बाद मुहम्मद सियालकोट पहुँचा और वहाँ एक दुर्ग का निर्माण कराया। जैसे ही उसने पीठ फेरी, खुसरू मलिक ने उस किले को अधिकृत करने का प्रयत्न किया। इसलिये ११८६ में मुहम्मद फिर लाहौर आया। जब खुसरू ने सन्धि की बातचीत चलाई तो मुहम्मद ने उसके पुत्र को जिसे उसने पहले बन्धक बना लिया था, मुक्त करने का बहाना किया। अपनी सुरक्षा का आश्वासन मिलने पर सहज विश्वासी खुसरू अपने पुत्र के स्वागत के लिये बाहर निकला। उसी समय मुहम्मद ने विश्वासघात किया और उसे तथा उसके पुत्र को बन्दी बना कर फीरोज़कोह भिजवा दिया। इसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं।

इस समय एक ऐसी घटना हुई जिसकी ओर इतिहासकार सम्भवत. ध्यान न दें; किन्तु उससे उस समय के पंजाब की अन्धकारपूर्ण स्थिति का पता लगता है। जम्मू के राजा पंजाब के ग़ज़नवी शासकों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते आये थे। किन्तु अब मलिक खुसरू ने वीर खोक्खरों को जिन्होंने एक बार महमूद ग़ज़नवी से लोहा लिया था, जम्मू के राजा चक्रदेव के पक्ष से तोड़ कर अपनी ओर मिला

लिया। चक्रदेव ने मुहम्मद ग़ोरी को आमन्त्रित किया जिस प्रकार कि आगे के युग में लोदी सरदार ने बाबर को अपनी सहायता के लिये बुलाया। मुहम्मद ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को दासता के समान बन्धन में जकड़ दिया। किन्तु इस देश के लोगों की सहायता प्राप्त करने पर भी गोरी भटिंडा अथवा सरहिन्द जैसे एक दो किलों को हस्तगत करने के अतिरिक्त और प्रगति न कर सका; भटिंडा को उसने ११९०–९१ ई० में विजय किया। किन्तु इस विजय से उसकी अपने सबसे भयंकर शत्रु पृथ्वीराज चौहान से जो दिल्ली तथा अजमेर का शासक था, टक्कर हो गई। तरारोई (थानेश्वर से १४ मील पर स्थित तराइन) नामक स्थान पर ११९१ ई० में युद्ध हुआ जिसमें मुहम्मद घायल हुआ और दूसरी बार एक काफिर राजा द्वारा खदेड़ दिया गया। राय पिथौरा—मुसलमान इतिहासकार उसे इसी नाम से पुकारते हैं—ने ४० मील तक ग़ोरी की सेना का पीछा किया और फिर मुड़ कर सरहिन्द के दुर्ग पर टूट पड़ा, तेरह महीने के दीर्घकालीन घेरे के बाद किले के रक्षकों ने समर्पण कर दिया।

कहा जाता है कि तराइन के प्रथम युद्ध की पराजय से मुहम्मद की प्रतिष्ठा को जो धक्का लगा उसमें उसे इतनी वेदना हुई कि 'न तो वह कभी आराम से सोया और न कभी शोक तथा चिन्ता से मुक्त होकर जागा।' अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करने के लिये उसने भरपूर तैयारियाँ कीं और दूसरे ही वर्ष (११९२ ई०) फिर युद्ध में कूद पड़ा। हिन्दुओं को पहले से ही इसका डर था, इसलिये शत्रु से लोहा लेने में उन्होंने किसी प्रकार का विलम्ब नहीं किया। तराइन (मिनहाज-उस-सिराज ने भूल से उसे नराइन लिखा है) के पवित्र रणक्षेत्र में हिन्दुस्तान के १५० राजाओं के नेतृत्व में ३००,००० घुड़सवार, ३००० हाथी तथा एक विशाल सेना एकत्र हो गई केवल कन्नौज का जयचन्द जो पृथ्वीराज का ससुर तथा उसका सबसे भयंकर शत्रु था, इस मोर्चे में सम्मिलित नहीं हुआ। मुस्लिम इतिहासकार लिखता है —

'दूसरे वर्ष सुल्तान ने एक विशाल सेना एकत्र की और अपनी पराजय का बदला लेने के लिये हिन्दुस्तान को ओर बढ़ा। मुईनुद्दीन नामक एक विश्वसनीय व्यक्ति ने जो तोलक पहाड़ियों का एक प्रमुख निवासी था, मुझसे कहा कि मैं उस सेना में उपस्थित था और उसमें १२०,००० कवचधारी घुड़सवार सम्मिलित थे। सुल्तान के पहुँचने से पहले ही सरहिन्द के किले का पतन हो चुका था और शत्रु नराइन (तराइन) के निकट डेरे डाले हुआ था। सुल्तान ने युद्ध के लिये अपनी सेना को व्यवस्थित किया और अपना मुख्य दल जिसमें कई वाहिनियाँ सम्मिलित थीं, पताकाओं, शामियानों तथा हाथियों सहित पीछे छोड़ दिया। अपनी आक्रमण की योजना सुनिश्चित करके वह धीरे-धीरे आगे बढ़ा। अपने द्रुतगामी घुड़सवारों को जो कवच नहीं धारण किये हुए थे उसने १०,००० की चार वाहिनियों में विभक्त किया और उन्हें आगे बढ़ कर दायें-बायें, तथा आगे-पीछे चारों ओर से बाणों द्वारा शत्रु को तंग करने का आदेश दिया। उनसे

कहा गया कि जब शत्रु आक्रमण के लिये अपनी सेना एकत्र कर ले तो तुम एक दूसरे को सहायता दो और पूरी रफ्तार से धावा बोलो। इस सामरिक चाल के कारण काफिरों की पराजय हुई, सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने हमें विजय प्रदान की और वे भाग खड़े हुए।'

'पृथ्वीराज हाथी से उतर कर घोड़े पर सवार हुआ और भागा किन्तु सरस्वती नामक स्थान के निकट पकड़ा गया और दोजख को भेज दिया गया। दिल्ली का गोविन्दराय भी युद्ध में मारा गया, सुल्तान ने उसे उसके दो टूटे हुए दाँतों से जिन्हें उसने पहले युद्ध में तोड़ दिया था, पहिचान लिया। ५८८ हिज्री (११९२ ई०) में प्राप्त हुई इस विजय का परिणाम यह हुआ कि राजधानी, अजमेर, एव शिवालिक पहाड़ियों, हाँसी, सरस्वती तथा अन्य जिलों पर सुल्तान का अधिकार हो गया।'

स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि, "११९२ के तराइन के दूसरे युद्ध को निर्णायक कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें हिन्दुस्तान में मुस्लिम आक्रमण की अन्तिम विजय सुनिश्चित हो गई। इसके बाद मुसलमानों को जो अनेक विजयें प्राप्त हुईं वे तो हिन्दुओं के सगठित मोर्चे की उस महान पराजय का परिणाम-मात्र थीं जो उन्हें दिल्ली के उत्तर में स्थित ऐतिहासिक रण-क्षेत्र में भुगतनी पड़ी।"

कुतुबुद्दीन ने मेरठ तथा कोइल को जीता और दिल्ली को अपनी सरकार की राजधानी बनाया। विजेता की निर्दयता का पता इसी से लगता है कि उसने जीते हुए नगरों की लूट तथा विध्वंस करने के अतिरिक्त उनकी जनता का बिना किसी भेदभाव के संहार किया। उदाहरण के लिये अजमेर में मन्दिरों की नीवों तक को उखाड़ फेंका गया, उनके स्थानों पर मस्जिदें तथा मदरसे खड़े किये गये और 'इस्लामी सिद्धान्तों तथा शरा के रीति-रिवाज़ों की स्थापना की गई।' इसके बाद 'उसने अजमेर का प्रदेश पृथ्वीराज के पुत्र गोला को इस शर्त पर

था। इसलिये ११९४ में मुहम्मद ने उस पर भी चढ़ाई करदी और उस राठौर का भी चौहान पृथ्वीराज की भाँति अन्त हो गया। 'दोनों सेनाओं की मुठभेड़ होने पर भीषण नरसंहार हुआ, काफिर अपनी संख्या तथा मुसलमान अपने साहस के कारण डटे रहे, किन्तु अन्त में काफिर भाग खड़े हुए और मुसलमानों की विजय हुई। हिन्दुओं का भीषण संहार हुआ, स्त्रियों तथा बच्चों के अतिरिक्त और किसी को नहीं छोड़ा गया और पुरुषों का कत्ल तब तक होता रहा जब तक कि स्वयं पृथ्वी न थक गई।' जयचन्द का भी अन्त वैसे ही हुआ जैसे हेस्टिंग्ज के युद्ध में (१०६६ ई०) हैरोल्ड का हुआ था, उसकी आँख में एक घातक बाण लगा। परिणाम भी वही हुआ। इङ्गलैण्ड में विजयी विलियम की भाँति मुहम्मद हिन्दुस्तान का राजा होगया। किन्तु उसकी नारमंडी अफगानिस्तान में थी और वह उसे नये विजित प्रदेशों से अधिक प्रिय थी, इसलिये हिन्दुस्तान को उसने अधिकतर अपने सामन्तों—तुर्की गुलामों—के ही हाथों में छोड़ दिया। 'हिन्दुओं के पलायन के उपरान्त शिहाबुद्दीन ने बनारस में प्रवेश किया और खजानों को १४०० ऊंटों पर लादकर ले गया। इसके बाद वह गजनी को लौट गया।' इब्न-उल-असिर विस्मयपूर्वक आगे लिखता है कि 'जो हाथी पकड़े गये उनमें एक सफेद हाथी भी था। एक व्यक्ति ने जिसने अपनी आँखों से इस दृश्य को देखा था, मुझे बतलाया कि जब हाथियों को पकड़कर शिहाबुद्दीन के सामने लाया गया और उन्हें अभिवादन करने की आज्ञा दी गई तो उस सफेद हाथी को छोड़कर सबने अभिवादन किया।'

चन्दवार के युद्ध में जयचन्द के पतन से मुहम्मद हिन्दुस्तान की राजनैतिक तथा धार्मिक दोनों राजधानियों—कन्नौज तथा बनारस—का स्वामी होगया। अब कोई ऐसा काम करने को नहीं रह गया था जिससे मुहम्मद की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती, इसलिये उसने बयाना तथा 'हिन्द की दुर्गमाला के उस मोती' ग्वालियर पर (११९६ ई०) अधिकार करके अपनी राजधानी के उत्तर तथा पूर्व की ओर ध्यान दिया। अगले पाँच वर्षों में गोरी भाइयों (मुहम्मद तथा गयासुद्दीन) को अपने राज्य की ईरानी सीमाओं पर इतनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं कि मुहम्मद को भारत में आने का अवसर ही न मिला, इसलिये "उत्तरी प्रान्तों को अपेक्षाकृत कुछ शान्ति का समय मिल गया, नौ वर्ष के युद्ध के उपरान्त सैनिकों के लिये भी यह काल सुखद था और देश को भी 'इससे लाभ हुआ।" केवल अजमेर में अन्हिलवाड़ के राजा के भड़काने से एक विद्रोह हुआ जिसे एबक ने शीघ्र ही दबा दिया। पृथ्वीराज के पुत्र के ऊपर जिसके अधिकार में अजमेर का प्रान्त छोड़ दिया गया था (११९२ ई०), एक मुस्लिम सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। पराजित विद्रोही हेमराज (पृथ्वीराज का एक भाई) ने जयपाल की भाँति चिता में जलकर अपने प्राण त्याग दिये (११९४ ई०)। एबक ने अन्हिलवाड़ के राजा भीम पर दो आक्रमण किये; एक ११९५ ई० में और दूसरा ११९७ ई० में। पहले आक्रमण में उसने सेनापति कुमारपाल को मार डाला और अन्हिलवाड़ को लूटा और इस

प्रकार मुहम्मद की ११८२ ई० की पराजय का बदला लिया। दूसरी ओर उसने राजा भीम को भयंकर पराजय दी जिसमें १५,००० आदमी मारे गये और २०,००० बन्दी बना लिये गये, इसके अतिरिक्त अनेक हाथी तथा बहुत-सा लूट का धन आक्रमणकारी के हाथों लगा। अन्हिलवाड़ का पुनः विध्वंस कर दिया गया।

अपने स्वामी की अनुपस्थिति में ऐबक का अन्य गौरवपूर्ण कार्य मध्यभारत के चन्देलों का दमन करना था। उसने उनकी राजधानी महोबा को जीत लिया और घेरा डालने के उपरान्त कालिञ्जर के प्रसिद्ध किले को भी हस्तगत कर लिया; भारी खजानों के अतिरिक्त वह ५७,००० स्त्री-पुरुषों को दास बनाकर लेगया। मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित कर दिया गया।

इस्लामी पताका का पूर्व की ओर बढ़ना

जिस समय ऐबक हिन्दुस्तान के केन्द्रीय प्रदेशों में व्यस्त था, उसी समय एक अन्य भाग्यशाली सैनिक जो ऐबक की भाँति तुर्की गुलामी ही था, बिहार तथा बंगाल के पूर्वी प्रान्तों पर मुहम्मद गोरी की सत्ता स्थापित करने में लगा हुआ था। यह व्यक्ति बख्तियार खलजी का पुत्र इख्तियारुद्दीन मुहम्मद था। मानव योनि का वह एक विचित्र नमूना था, सीधा खड़े होने पर उसकी बाहें जंघाओं तक पहुँचती थीं। अपनी इन भुजाओं से वह उत्तरी भारत के पूर्वी छोर तक पहुँच गया। ११९७ के लगभग उसने बिहार को जीत लिया और उस प्रान्त से बौद्ध धर्म के बचे-खुचे चिन्हों को भी मिटा दिया, जैसा कि आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिन्ध में किया था। इसके उपरान्त उसने बंगाल में प्रवेश किया और ११९९ में उस पर अधिकार कर लिया। मिनहाज सिराज ने तबकात-नासिरी में जो कहानी लिखी है उसे यहाँ उद्धृत करना अधिक उपयुक्त होगा —

जब मुहम्मद इब्न बख्तियार 'सुल्तान (?) कुतुबुद्दीन से मिलकर लौटा और बिहार को विजय कर लिया तो उसकी ख्याति राय लखमनिया (बंगाल का लक्ष्मणसेन) के कानों में पहुँची और राय के सम्पूर्ण राज्य में फैल गई......। दूसरे वर्ष मुहम्मद इब्न बख्तियार ने एक सेना तैयार की और बिहार से कूच कर दिया। वह केवल अठारह घुड़सवारों के साथ नदिया (लखनौती, ओदन्तपुरी) के निकट जा धमका, उसकी शेष सेना पीछे आती रह गई।...... लोगों ने सोचा कि यह कोई व्यापारी है और घोड़ों को बेचने लाया है। इस प्रकार वह राय लक्ष्मण के महल के फाटक तक पहुँच गया और तलवार खींच कर हमला बोल दिया उस समय राय भोजन करने बैठा था और सदैव की रीति के अनुसार सोने और चाँदी के थालों में भोजन उसके सामने परोसा गया था। सहसा उसके महल के फाटक पर और नगर में चीत्कार हो उठा। इससे पहले कि वह यह पता लगा पाता कि क्या हो गया है, मुहम्मद इब्न बख्तियार महल में घुस गया और अनेक आदमियों को तलवार के घाट उतार दिया। राय नंगे पैर ही महल के पीछे के द्वार से भाग गया और उसका सम्पूर्ण कोष, सब रानियाँ, दासियाँ तथा नौकर-चाकर आक्रमणकारी के अधिकार में आगये। बहुत से हाथी पकड़ लिये गये और जो धन मुसलमानों के

हाथ लगा उसकी गणना करना भी असम्भव था। सेना के आ पहुँचने पर पूरे नगर पर अधिकार हो गया और उसी को मुहम्मद इब्न बख्तियार ने अपनी राजधानी निश्चित किया।'

शिहाबुद्दीन की मृत्यु

जिस समय मुहम्मद ग़ोरी की विजयों का संगठन तथा विस्तार उसके गुलाम कर रहे थे, उस समय वह स्वयं जैसा कि हम पहले कह आये है, अपने भाई के राज्य में तुर्कों से युद्ध करने में संलग्न था। ग़ज़नवियों के इतिहास ने अपने को दुहराया। १२०५ ई० में अन्धकुली के युद्ध में तुर्कों ने मुहम्मद को धूल चटा दी; "इस पराजय ने भारत में उसकी सैनिक प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचाया।" इस देश में यहाँ तक अफवाहें फैल गई कि सुल्तान मारा गया है। इस समाचार का प्रभाव सबसे पहले सीमास्थ प्रदेशों के निवासी खोक्खरों पर पड़ा। राय साल के नेतृत्व में उन्होंन विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया, सुल्तान के सूबेदार को परास्त किया, लाहौर को लूटा और पंजाब तथा ग़जनी के बीच के सामरिक मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। मुहम्मद की मृत्यु के समाचार लगातार आ रहे थे, इसलिये ऐबक ने स्थिति को सँभालने के लिये जो प्रयत्न किये, वे विफल रहे। इसलिये सुल्तान का स्वय आना आवश्यक हो गया। १२०५ ई० के अन्त में मुहम्मद तथा ऐबक की सम्मिलित सेनाओं ने झेलम तथा चिनाव के बीच खोक्खरों को हराया और कुचल दिया। शत्रुओं का भारी संख्या में संहार हुआ, फिर भी उनमें से इतने जीवित पकड़ लिये गये कि खेमों में एक-एक दीनार में पाँच-पाँच खोक्खर गुलाम बेचे गये। २५ फरवरी १२०६ ई० को सुल्तान लाहौर पहुँचा और तुर्कों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखने के लिये ग़ज़नी लौटने की तैयारियाँ करने लगा। किन्तु दुर्भाग्यवश लौटते समय मार्ग में सिन्ध के किनारे किसी ने उसकी हत्या करदी। कुछ लोगों का मत है कि राय पिथौरा अभी तक जीवित था और उसी ने सुल्तान का वध किया, किन्तु यह मत स्पष्टतया मूर्खतापूर्ण है; कुछ लेखक इस्माइली विद्रोहियों का यह कार्य बतलाते हैं, लेकिन यह अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है कि क्रोधान्ध खोक्खर मुहम्मद की हत्या के लिये जिम्मेदार थे। सुल्तान के शव को लोग उसकी राजधानी ग़जनी को ले गये और वहीं उसे दफना दिया। उसी वर्ष (१२०६ ई०) उसके भारतीय साम्राज्य के पूर्वी छोर पर एक अन्य मुहम्मद की भी मृत्यु हो गई। इख्तियारुद्दीन को बिहार तथा बंगाल की विजयों से सन्तोष नहीं हुआ और कुछ सीमास्थ जातियों के लुभाने से उसने एक असम्भव कार्य सम्पादित करने का प्रयत्न किया। पहले अध्याय में आसाम के इतिहास का वर्णन करते समय हम उल्लेख कर आये हैं कि मुसलमानों ने कामरूप की सीमाओं में होकर तिब्बत में प्रवेश करने का प्रयत्न किया और उस साहसिक कार्य में उनका सर्वनाश हो गया। सर वोल्जले हेग का मत है कि "मुसलमानों की भारत में यह सबसे नाशकारी सैनिक पराजय थी। इससे पहले सेनाओं की हार हुई थी, किन्तु इख्तियारुद्दीन के दल का तो लगभग पूर्णरूप से

सफाया हो गया।" इख्तियारुद्दीन की लम्बी भुजाएँ भी हिमालय पर न पहुँच सकीं, आक्रमणकारी दल में से केवल वही बच सका और लखनौती में अत्यन्त अपमानजनक स्थिति में उसका देहान्त हो गया। कुछ लेखकों का कहना कि उसी की बिरादरी के अलीमर्दान नामक एक व्यक्ति ने उसकी हत्या कर दी।

मुहम्मद की मृत्यु के बाद थोड़े ही समय में ग़ोरी वंश के एक के बाद एक, दो सुल्तान ग़ज़नी के सिंहासन पर बैठे। किन्तु उसके साम्राज्य के वास्तविक शासक चार तुर्की गुलाम थे जिन्हें उसने अपने जीवन-काल में ही प्रान्तों का शासन-भार सौंप दिया था। यदि एबक ने अत्यन्त योग्यता के साथ स्थिति पर अधिकार न रक्खा होता, तो यिल्दिज़ ग़ज़नी में, कुबैचा मुल्तान में, एबक दिल्ली में और इख्तियारुद्दीन लखनौती में एक दूसरे से स्वतन्त्र रहकर शासन करते रहते। ग़ज़नी में शिहाबुद्दीन के उत्तराधिकारी महमूद ने एबक के पास 'एक सिंहासन, एक शामियाना, पताकाएँ, नगाड़े तथा सुल्तान की पदवी आदि सभी शाही अधिकार चिह्न भेज दिये। कारण यह था कि वह अपने हितों की रक्षा करने का इच्छुक था और यदि एबक उसका आधिपत्य न मानता तो उसमें उसका विरोध करने की सामर्थ्य नहीं थी।'

कुबैचा एबक का दामाद था और उसने हिन्दुस्तान के नये सुल्तान को कोई कष्ट नहीं दिया। इख्तियारुद्दीन ने सदैव एबक की अधीनता स्वीकार की थी और उसी स्थिति में उसकी मृत्यु हो गई। इख्तियार का तथाकथित हत्यारा अली-मर्दान छल-बल से पूर्वी प्रान्तों का सूबेदार बन बैठा। केवल यिल्दिज़ ने एबक के प्रभुत्व को चिनौती दी। १२०८ ई० में वह ग़ज़नी से चला और मुल्तान को हस्तगत कर लिया। एबक ने उसे मार भगाया और स्वयं ग़ज़नी पर अधिकार करके बदला चुकाया। इस सफलता से प्रफुल्लित होकर एबक अपनी मर्यादा का ही उल्लंघन कर बैठा। उसके सैनिकों ने शाही राजधानी के नागरिकों के साथ भी अन्य विजित नगरों के निवासियों का-सा ही व्यवहार किया और स्वयं एबक ने सुरापान के आनन्द में अपने को डुबा दिया। उसके इस आमोद-प्रमोद से ग़ज़नी की जनता को घृणा हो गई और उसने यिल्दिज़ को पुनः आमन्त्रित किया, दिल्ली का प्रथम सुल्तान शीघ्र अपने राज्य को लौट आया जिस पर उसका क़ानूनी अधिकार था। १२१० ई० के नवम्बर के आरम्भ में चौगान खेलते समय एबक घोड़े से गिर पड़ा और "स्वर्ग सिधारा"।

गुलाम-वंश

लेनपूल लिखते हैं कि महमूद की तुलना में मुहम्मद का नाम कम विख्यात हुआ है। "तथापि भारत में उसकी विजयें महमूद की विजयों से कहीं अधिक विस्तृत तथा स्थायी थीं" यद्यपि इन विजयों में से बहुत-सी अपूर्ण ही थीं और अब भी विद्रोहों को दबाने तथा सामन्तों को अधीन करने का कार्य शेष था, फिर भी मुहम्मद ग़ोरी के समय से 'भारतीय ग़दर' की भयंकर विपत्ति तक दिल्ली के

सिंहासन पर मुसलमान राजा ही बैठा'। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, इस सफलता का श्रेय जितना मुहम्मद ग़ोरी को था उतना ही उसके ग़ुलामों को। इनमें से एबक की गणना एक राजवंश के संस्थापक की दृष्टि से बाबर से की जानी चाहिये। उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने पूरे साम्राज्य के ऐश्वर्य में कुछ वृद्धि भले ही की हो, किन्तु बीज डालना तथा उदाहरण प्रस्तुत करना उसी का काम था। तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों के मत में एबक का आचरण सदैव न्याय-पूर्ण था और 'जनता सुखी थी'। सड़कें डाकुओं से मुक्त थीं और 'ऊँच तथा नीच सभी हिन्दुओं के साथ दयालुता का व्यवहार किया जाता था'। किन्तु इसने एबक को हिन्दुओं को दास बनाने, मुसलमान बनाने, उनके मन्दिरों को लूटने, ध्वस्त करने तथा उनके स्थानों पर मस्जिदें खड़ी करने आदि नित्य कर्म में भारत के अन्य मुस्लिम विजेताओं का अनुकरण करने से नहीं रोका। यह सब कुछ इस्लाम के सैनिक-धर्म का अंग बन चुका था। युद्ध में ये सब चीज़ें नियमपूर्वक हुआ करती थीं। किन्तु जब एक बार जिहाद में बन्दी बनाये गये काफ़िरों के गले में 'दासता का पट्टा' पहना दिया जाता था तो फिर बचे हुओं के जीवन में, यदि वे जज़िया देते रहते, हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। अपनी दानशीलता के कारण एबक ने 'लाखबख़्श' की उपाधि प्राप्त कर ली थी। दिल्ली में उसने विशाल जामी मस्जिद का निर्माण कराया और सम्भवतः क़ुतुबमीनार का बनवाना भी प्रारम्भ किया, जिसे आगे चलकर उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमिश ने पूरा किया। संक्षेप में वह 'ख़ुदा की राह में लड़नेवाला' था; उसने राज्य को 'मित्रों' से भर दिया और 'शत्रुओं' से ख़ाली कर दिया। 'उसके दान का प्रवाह अविच्छिन्न था, उसी प्रकार उसके संहार का क्रम भी।'

एबक के बाद

दिल्ली के प्रथम ग़ुलाम सुल्तान एबक (१२०६–१० ई०) के बाद इस वंश ने हिन्दुस्तान पर अस्सी वर्ष तक (१२१०–६० ई०) शासन किया। इस युग में केवल दो महत्त्वशाली व्यक्ति हुए जिन्होंने भारत में इस्लामी सत्ता को सुदृढ़ करने में विशेष योग दिया। वे थे शम्सुद्दीन इल्तुतमिश (१२१०–३५ ई०) तथा गियासुद्दीन बलबन (१२६६–८७ ई०)। इनके अतिरिक्त इस 'वंश' में सात सदस्य और हुए जो दिल्ली के सिंहासन पर बैठे, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने राज्य पर शासन किया। इनमें से एक ने तो बीस वर्ष तक राज्य किया, (महमूद नासिरुद्दीन, १२४६–६६ ई०), किन्तु उसके समय में भी राज्य की वास्तविक बागडोर बलबन के हाथों में रही। शेष छः में से सुल्ताना रज़ियातुद्दीन (१२३६–४० ई०)—जो अपने स्वत्व से दिल्ली पर राज्य करनेवाली एकमात्र मुस्लिम रानी थी—को छोड़कर अन्य सभी नाममात्र के शासक थे। इस युग की विशेषताओं का वर्णन जितना अच्छा ज़ियाउद्दीन बरनी के स्पष्ट शब्दों में किया जा सकता है, उतना और किसी प्रकार से नहीं; बरनी लिखता है :—

'शम्सुद्दीन की मृत्यु के बाद तीस वर्ष के युग में (१२३६—६६ ई०) सुल्तानों की अयोग्यता तथा शम्सी ग़ुलामों की दर्पपूर्ण शक्ति के कारण लोगों में अस्थिरता, अवज्ञा तथा अहंकार की ऐसी भावना उत्पन्न होगई कि वे प्रत्येक अवसर की प्रतीक्षा करते और उससे लाभ उठाते थे। राजशक्ति का भय, जो अच्छे शासन का आधार तथा राज्य के ऐश्वर्य का स्रोत है, सब लोगों के हृदय से जाता रहा था और देश दुर्दशा का शिकार बन गया था।'

यह दुर्दशा केवल उन सुल्तानों की राजनैतिक अयोग्यता का परिणाम नहीं थी जो राजधानी में महत्वाकांक्षी साहसिकों के हाथों की कठपुतलियाँ बन गये थे, बल्कि इसके लिए हिन्दुओं के तथा उन मुसलमान सूबेदारों के, जो अपने स्वतन्त्र राजवंशों की स्थापना करना चाहते थे, विद्रोह भी जिम्मेदार थे। उस युग में, जबकि शक्ति उसी के हाथों में रहती थी, जिसमें उसे धारण करने की क्षमता होती थी, इससे भिन्न और कुछ हो भी नहीं सकता था। ग़ुलामों ने किसी वंशानुगत अथवा वैध अधिकार के बल पर नहीं, बल्कि प्राकृतिक निर्वाचन के मूल सिद्धान्त के आधार पर शासन किया। लेनपूल ने ठीक ही कहा है, "एक प्रतिभाशाली शासक के पुत्र के विफल होने की सम्भावना रहती है, किन्तु एक वास्तविक नेता के ग़ुलाम बहुधा अपने स्वामी के ही तुल्य सिद्ध हुए हैं।'''   '''पुत्र तो केवल एक कल्पना की वस्तु होता है, उसमें अपने पिता की प्रतिभा हो अथवा न हो। यदि हुई भी तो भी पिता की सफलता और शक्ति के कारण विलासिता का ऐसा वातावरण बन जाता है कि पुत्र को स्वयं प्रयत्न करने की प्रेरणा नहीं मिलती। '' ' इसके विपरीत ग़ुलाम योग्यतम होने के कारण आगे बढ़ पाता है; वह अपनी मानसिक तथा शारीरिक योग्यताओं के लिए चुना जाता है और सावधानीपूर्वक प्रयत्न तथा कठिन सेवा करके ही अपने स्वामी की दृष्टि में अपनी स्थिति को बनाये रख सकता है। यदि उसमें दोष हुए तो उसके भाग्य का फूटना निश्चित है। इल्तुतमिश तथा बलबन दोनों यूनानी ढंग के अत्याचारी थे। उन्होंने तत्परता के साथ अवसर से लाभ उठाया और अपना अधिनायकत्व स्थापित कर लिया।"

अराजकता का अन्त तथा व्यवस्था की स्थापना

ऐबक की मृत्यु के बाद वंशानुगत राजतन्त्र स्थापित करने के विफल प्रयत्न किये गये, किन्तु ऐबक का पुत्र आराम पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ। 'उपद्रवों का दमन करने, सामान्य जनता को शान्ति प्रदान करने और सैनिकों के हृदयों को सन्तोष देने के लिये' उससे अधिक योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी। इल्तुतमिश एक ऐसा व्यक्ति मिल गया, वह कुतुबुद्दीन का ग़ुलाम तथा दामाद और बदायूँ का सूबेदार था।

१२११ ई० में इल्तुतमिश को जिस कार्य का सामना करना पड़ा वह किसी भी प्रकार से सरल नहीं था। ऐबक हिन्दुस्तान में अपनी सत्ता की स्थापना कर भी न

पाया था कि सहसा एक दुर्घटना से उसकी मृत्यु हो गई। यिल्दिज़ ने ग़ज़नी में अपने प्रभुत्व की पुन: स्थापना करली थी, कुबैचा जिसने ऐबक का आधिपत्य मान लिया था, एक अन्य ग़ुलाम के सम्मुख समर्पण करनेवाला नहीं था। बंगाल को एबक ने अपनी व्यक्तिगत सत्ता स्वीकार करने पर बाध्य किया था, किन्तु उस प्रान्त का खिलजी सूबेदार अलीमर्दान उसके उत्तराधिकारी की अधीनता में रहने के लिए तैयार नहीं था। इसलिए पूर्व तथा पश्चिम, दोनों दिशाओं में दिल्ली के सुल्तान को अपनी शक्ति तथा प्रतिष्ठा की पुन: स्थापना करनी थी। इस कार्य को सम्पादित करने की योग्यता का इल्तुतमिश में किसी भी प्रकार से अभाव नहीं था। अपनी मृत्यु (१२३६ ई०) से पहले वह उत्तराधिकार में प्राप्त अपने राज्य का स्वामी बने रहने में ही सफल नहीं हुआ, बल्कि नई विजयों द्वारा उसने दिल्ली सल्तनत को अधिक पूर्ण कर लिया। यिल्दिज़ १२१५ ई० में तराइन के ऐतिहासिक रण-क्षेत्र में परास्त हुआ तथा बन्दी बना लिया गया और अन्त में उसकी हत्या करदी गई, कुबैचा ने १२१७ ई० में नाममात्र के लिए दिल्ली की अधीनता मान ली, किन्तु १२२७ ई० तक वह अपने प्रान्त (सिन्ध, मुलतान तथा पश्चिमी पंजाब) पर शासन करता रहा, अन्त में सिन्ध में डूबकर उसने अपना जीवन समाप्त किया। जब तक जीवित रहा तब तक वह इल्तुतमिश की बगल का काँटा बना रहा।

उद्दण्ड खलजियों ने बिहार तथा बंगाल के पूर्वी प्रान्तों में भयंकर उपद्रव खड़ा किया। एबक की मृत्यु का समाचार सुनकर अस्थिर-बुद्धि अलीमर्दान ने अपने को स्वतन्त्र घोषित करके अलाउद्दीन की उपाधि धारण की। "अपनी प्रजा के लिए वह एक निर्मम तथा रक्त-पिपासु अत्याचारी था और सीमास्थ प्रदेशों के हिन्दू-शासक उससे इतने भयभीत थे कि उसे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने जो कर दिया उससे उसका कोष भर गया।" अपने इस आचरण के कारण वह दो वर्ष के भीतर ही एक अत्याचारी की मौत मर गया। अलीमर्दान के उत्तराधिकारी इवाज़ ने उसी के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न किया। किन्तु १२२२ ई० में जब इल्तुतमिश का पुत्र नासिरुद्दीन महमूद अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ और बिहार एक अन्य सूबेदार को सौंप दिया गया, तब इवाज़ ने सुल्तान का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इतना होने पर भी १२२७ ई० में इवाज़ ने एक बार फिर विद्रोह किया, किन्तु महमूद ने उसे हराया तथा मार डाला और लखनौती पर अधिकार करके कामरूप के राजा बृतू पर भी विजय प्राप्त की। जब १२२९ ई० में महमूद की मृत्यु हो गई तो इवाज के पुत्र बल्का ने अपने को सुल्तान घोषित कर दिया और इख्तियारुद्दीन दौलत बल्का की उच्च उपाधि धारण की। इल्तुतमिश ने १२३०-३१ ई० में उस पर आक्रमण किया और उसे मारकर अलाउद्दीन जानी को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया।

बंगाल से लौटते समय १२३२ ई० में इल्तुतमिश ने ग्वालियर के विद्रोही राजा मंगल भवदेव का जिसने आरामशाह के शासनकाल में अपनी स्वतन्त्रता की पुनः

स्थापना कर ली थी, दमन किया। इसके बाद उसने मालवा पर आक्रमण किया, भिलसा तथा माँडू के क़िलों को हस्तगत कर लिया और विक्रमादित्य की उज्जयिनी में स्थित महाकाल के प्राचीन सूर्य-मन्दिर की लूट तथा विध्वंस करके अपनी उपाधि शम्सुद्दीन (धर्मादित्य) को सार्थक किया (१२३४ ई०)। इस आक्रमण के बाद इल्तुतमिश अधिक समय तक जीवित नहीं रहा। दिल्ली में मुलाहिदों के धर्मान्ध सम्प्रदाय ने उसकी हत्या के लिए षड्यन्त्र किया, किन्तु १२३६ ई० में रोग से इल्तुतमिश का देहावसान हो गया।

मंगोलाई भँवर

अनेक वर्षों से भारत में जितने संकट आये थे उनमें मंगोलों का संकट सबसे भयंकर था। मंगोल लोग मध्य एशिया में रहनेवाले घुमक्कड़ों के झुण्ड थे; किन्तु कुछ समय पूर्व उन्हें एक ऐसे साम्राज्य के रूप में ढाल दिया गया था जो विश्व इतिहास का केवल एक विजेता द्वारा स्थापित किया हुआ सबसे बड़ा साम्राज्य था। विख्यात चिनगिज़ख़ाँ (११५५-१२२७ ई०) के नेतृत्व में उन्होंने तातारी, चीन तथा कैस्पियनसागर पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। भारत किसी प्रकार इस भँवर से बच गया, यद्यपि बर्बरों की बाढ़ हमारी सीमाओं पर टकराई और पश्चिमी पंजाब में अपने चिह्न छोड़ गई। ख्वारिज़्म का शाह जलालुद्दीन ट्रांसऑक्सियाना से खदेड़ दिया गया था, अफ़ग़ानिस्तान तथा पंजाब में आकर उसने शरण ली और इल्तुतमिश से सहायता की प्रार्थना की। किन्तु दिल्ली के विचारशील सुल्तान को दुष्परिणामों का भय था, इसलिए उसने जलालुद्दीन की यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की। जब निराश शाह को लड़ने पर बाध्य होना पड़ा तो उसने कुबैचा के राज्य में प्रलय मचा दी। चिनगिज़ख़ाँ तथा उसके उजड्ड बर्बरों ने तेजी से उसका पीछा किया, किन्तु भारत का जलवायु इतना गर्म था कि वह उन्हें आकृष्ट न कर सका। फिर भी मंगोल लोग एक-दो पीढ़ी तक, जब तक कि वे अपना धर्म छोड़कर मुस्लिम-समाज में खप नहीं गये, पंजाब को पीड़ित करते रहे। अपने असंस्कृत रूप में वे कोरे बर्बर थे, उनकी आवाज़ 'पर्वतों में मेघध्वनि' की भाँति कड़कती थी और उनके हाथ रीछ के पंजों की भाँति इतने बलिष्ठ थे कि वे आदमी के वैसे ही सरलता से दो टुकड़े कर सकते थे जैसे कि एक बाण के'। उनमें से प्रत्येक दिन भर में एक भेड़ खाता और भारी मात्रा में घोड़ी का खट्टा किया हुआ दूध (कुमिस) पीता, शीतकाल में भारी कोयलों की भट्टियों के सामने लेट जाता और 'शरीर पर पड़नेवाले कोयलों और चिनगारियों की चिन्ता न करता' तथा उन्हें मक्खियों का काटना समझता। मंगोल लोग मुसलमानों के साथ वैसा ही व्यवहार करते थे जैसा कि मुसलमान हिन्दुओं के साथ। उनका मस्जिदों तथा पवित्र वस्तुओं को जलाते, नष्ट करते और लूटते थे। वे स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का बिना किसी भेदभाव के संहार करते और कभी-कभी यह देखने के लिए उनकी आँतें निकाल लेते कि कहीं इन्होंने रत्न तो नहीं

निगल लिये हैं। कवि अमीर ख़ुसरू एक बार एक मंगोल द्वारा बन्दी बना लिया गया था, उनके हाथों उसे भी कष्ट भोगने पड़े। उनका इन मर्मस्पर्शी शब्दों में उसने वर्णन किया है—

'मुस्लिम शहीदों के रक्त से रेगिस्तान रँग गया और मुसलमान बन्दियों की गर्दनें एक-दूसरे से ऐसे बाँध दी गईं जैसे माला में फूल गूँथ दिये जाते हैं। मुझे भी बन्दी बना लिया गया था और इस डर से कि ये मेरा रक्त बहायेंगे, मेरी धमनियों में रक्त की एक बूँद भी न रही। मैं पानी की भाँति इधर-उधर दौड़ता फिरा और मेरे पैरों में वैसे ही अगणित छाले पड़ गये जैसे कि नदी की सतह पर बुलबुले। अत्यधिक प्यास के कारण मेरी जीभ सूख गई और भोजन के अभाव से पेट सिकुड़ गया। उन्होंने मुझे वैसा ही नंगा छोड़ दिया था जैसा शीतकाल में पत्तियों के झड़ जाने से वृक्ष अथवा काँटों से अत्यधिक क्षत-विक्षत फूल। मुझे पकड़नेवाला मंगोल घोड़े पर सवार था और ऐसा लगता था मानों पहाड़ी चट्टान पर कोई सिंह बैठा है; उसके मुख से घिनौनी दुर्गन्ध निकल रही थी और उसकी ठोढ़ी पर एक पौदे के समान बालों का गुच्छा खड़ा हुआ था। यदि दुर्बलता के कारण मैं कुछ पीछे रह जाता, तो वह मुझे कभी तो कढ़ाई में भून डालने की धमकी देता और कभी भाले से काट डालने की। मैं आह भरता और सोचता कि इससे मुक्ति पाना असम्भव है। किन्तु ईश्वर की कृपा से मुझे मुक्ति मिल गई और न तो मेरी छाती ही बाण से छेदी गई और न शरीर के ही तलवार से दो टूक किये गये।'

'ख़लीफ़ा का सहायक'

इल्तुतमिश ने लगभग एक चौथाई शताब्दी (१२११-३६ ई०) तक राज्य किया। उसके महान् पूर्वाधिकारी एबक को उसके प्रभु ग़ज़नी के शासक ने १२०६ ई० में सुल्तान की पदवी प्रदान की थी। सुल्तान के रूप में एबक के चार वर्ष के शासनकाल में दिल्ली-सल्तनत अपरिपक्व अवस्था में ही रही। एबक की सहसा मृत्यु से, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, उसके लिए छिन्न-भिन्न होने का संकट उपस्थित हो गया, इल्तुतमिश ने उसे इस संकट से मुक्त किया।

उसने दिल्ली-सल्तनत में नया जीवन फूँक दिया और उसे एक सुसम्बद्ध साम्राज्य के रूप में अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ गया। अपने समकालीन लोगों पर उसने जो प्रभाव डाला उसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि बग़दाद के ख़लीफ़ा ने उसे 'ख़लीफ़ा का सहायक' की उपाधि से विभूषित किया। इसी कारण इल्तुतमिश को दिल्ली-सल्तनत का वास्तविक संस्थापक माना गया है, किन्तु उसे "महानतम ग़ुलाम सुल्तान कहना" अतिशयोक्तिपूर्ण होगा, जैसा कि सर वोल्ज़ले हेग ने किया है। यह पदवी तो गियासुद्दीन बलबन को मिलनी चाहिये। किन्तु यह कहने का अर्थ इल्तुतमिश के महत्व को कम करना नहीं है। संगठन का अत्यावश्यक कार्य उसीने सम्पादित किया। इसके अतिरिक्त उसने इस्लामी जगत में नैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली, जो ख़लीफ़ा की मान्यता के

कारण निस्सन्देह उसे मिल गई थी। उसने कुतुबमीनार का निर्माण कराया अथवा उसे पूरा किया। [कहा जाता है कि मीनार का यह नाम उस के ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख़्तियार काकी के नाम पर पड़ा था जिसका इल्तुतमिश अत्यधिक सम्मान करता था और जिसकी दिल्ली में ७ दिसम्बर १२२५ को मृत्यु हुई थी। यह विश्वास कि इसका निर्माण कुतुबुद्दीन ने कराया होगा इसके नाम तथा इस पर एक उत्कीर्ण लेख के कारण चला आया है। इसकी पाँचवी तथा अन्तिम मंजिल फ़ीरोज़ तुग़लक की बनवाई हुई बतलाई जाती है।] इसका निर्माण १२३१ ई० में हुआ था और ससार की सबसे ऊँची मीनार (२४२ फ़ीट के लगभग) मानी जाती है। "उसके आगे निकले हुए छज्जे, एक के बाद एक नुकीली तथा गोल बढ़ेरियाँ तथा अरबी के सुन्दर उत्कीर्ण लेख स़फेद तथा लाल पत्थर का जिसकी यह बनी हुई है, स्वाभाविक वैषम्य प्रस्तुत करते हैं।" मुद्रा में सुधार करनेवाला पहला मुस्लिम सुलतान भी इल्तुतमिश ही था। उससे पहले मिश्रित धातुओं के देशी सिक्के चलते थे जिनके एक ओर बैल और दूसरी ओर घुड़सवार अंकित रहता और नागरी तथा अरबी दोनों लिपियों में लेख उत्कीर्ण होते थे। इल्तुतमिश ने चौड़ा चाँदी का टका (आधुनिक रुपये का पूर्वज, १७५ ग्रेन का) चलाया जिस पर केवल अरबी लेख खुदा रहता था।

पराभव का एक दशक

इल्तुतमिश की मृत्यु से लेकर नासिरुद्दीन के सिंहासनारोहण तक का एक दशक (१२३६-४६ ई०) दिल्ली के लिए पतन का युग था। यह दशक अराजकता के उन युगों में से दूसरा था जो अगली पाँच शताब्दियों से भी अधिक के काल में समय-समय पर निर्मम रूप से इसलिए आते रहे कि मुसलमानों में शान्तिमय उत्तराधिकार का कोई सर्वमान्य नियम नहीं था। लखनौती के सूबेदार शाहज़ादा महमूद की मृत्यु के बाद इल्तुतमिश ने जिसे अपने पुत्रों से कोई आशा नहीं थी, अपनी पुत्री रज़िया को युवराज्ञी नियुक्त किया, किन्तु उसकी असाधारण योग्यताओं के बावजूद भी यह स्पष्ट था कि उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुए बिना नहीं रहेगा।

तत्कालीन इतिहासकार मिनहाज-उस-सिराज लिखता है कि किस प्रकार रज़िया योग्य तथा अयोग्य दोनों थी—'उसमें राजोचित सभी गुण विद्यमान थे किन्तु वह पुरुष योनि में उत्पन्न नहीं हुई थी, इसलिए सब पुरुषों की दृष्टि में उसके ये गुण निरर्थक थे (ईश्वर उस पर दया करे।) अपने पिता के समय में उसने बड़ी प्रतिष्ठा के साथ राजसत्ता का उपयोग किया। उसकी माता सुलतान की पटरानी थी और वह कुश्के फ़ीरोजी में प्रमुख राजप्रासाद में निवास करती थी। सुलतान ने उसके मुखमण्डल पर शक्ति तथा वीरता के चिन्ह देखे और यद्यपि वह लड़की ही थी और एकान्त में रहती थी, फिर भी ग्वालियर की विजय (१२३२ ई०) से लौटकर सुलतान ने अपने सचिव को जो सरकार का संचालक था, उसका नाम राज्य की युवराज्ञी तथा सिंहासन की उत्त-

राधिकारिणी के रूप में लेखबद्ध करने की आज्ञा दी।' कहा जाता है कि सनातनी परम्पराओं के समर्थकों ने इस सम्बन्ध में जो आपत्ति उठाई, उसका सुल्तान ने इस प्रकार उत्तर दिया, "मेरे पुत्र यौवन के भोग-विलास में लिप्त हैं और उनमें से कोई भी सुल्तान होने के योग्य नहीं है। उनमे राज्य पर शासन करने की क्षमता नहीं है और मेरी मृत्यु के उपरान्त आप देखेंगे कि राज्य का सचालन करने के लिए मेरी पुत्री से अधिक योग्य कोई व्यक्ति नहीं है।" मिनहाजुद्दीन विश्वासपूर्वक लिखता है कि 'बाद में सर्वसम्मति से यह स्वीकार कर लिया गया कि सुलतान का निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण था।'

किन्तु 'रक्तपात तथा तलवार' के उस युग में युद्ध ही न्याय का एकमात्र साधन था। अमीर लोग स्वर्गीय सुलतान के इस मूर्खतापूर्ण नाम-निर्देशन को मानने के लिए उद्यत नहीं थे। इसलिए उन्होंने रज़िया के एक भाई रुक्नुद्दीन को सिंहासन पर बिठला दिया। इसके उपरान्त क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति हुई, जिनके ब्यौरे का यहाँ वर्णन करना सर्वथा निरर्थक होगा। अवध, बदायूँ, हाँसी, मुल्तान तथा लाहौर के सूबेदारों ने खुले रूप से विद्रोह कर दिया। राज्य के वज़ीर जुनैदी ने भी युवराज्ञी को उत्तराधिकारिणी नहीं स्वीकार किया। किन्तु रज़िया ने शीघ्र ही तलवार के बल से अपने पिता के निर्णय का औचित्य सिद्ध कर दिया। वह पुरुषों के वस्त्र पहनती, 'हियावथा की भाँति युद्ध-राग लगाती' और घोड़े पर सवार होकर उसी भाँति युद्ध-क्षेत्र को जाती जैसे आगे के युग में चाँदबीबी। कुछ समय के लिए उसे सफलता मिलती दिखाई दी और लखनौती से देवल तक सभी मलिक और अमीर उसकी आज्ञा मानते और आधिपत्य स्वीकार करते थे। वह खुले दरबार में बैठती और स्त्री होने की चिन्ता न करते हुए राज्य का काम काज चलाती। जैसा कि इतिहासकार लिखता है उसने सिद्ध कर दिया कि वह 'एक महान् शासक' थी। 'वह बुद्धिमान, न्यायप्रिय, उदार, राज्य का हित चाहनेवाली, न्याय करनेवाली, प्रजापालक तथा अपनी सेनाओं की सचालक थी।' किन्तु तेरहवीं शताब्दी ई० में एक स्त्री के लिए यह सब कुछ आवश्यकता से अधिक था। उसके प्रतिद्वन्दी शीघ्र ही उसके पीछे पड़ गये, विशेषकर 'चालीस' जो दरबार में तुर्की गुलामों के शक्तिशाली मडल थे। उनके भड़काने पर भटिंडा के सूबेदार इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया ने विद्रोह कर दिया। अमीरों के क्रोध का मुख्य कारण सुल्ताना रजिया का हबशी प्रेमी याकूत था, जिसका इस रानी के प्रति वैसा ही व्यवहार था, जैसा एसैक्स के अर्ल का रानी एलिजबैथ के साथ। जब रज़िया ने अपने प्रेमी के साथ भटिंडा के लिए कूँच किया, तो याकूत का बध कर दिया गया और सुल्ताना बन्दी बना ली गई। किन्तु चतुर रजिया ने अपने पकड़नेवाले अल्तूनिया को प्रेमपाश में बाँध लिया और अपनी स्वतन्त्रता के मूल्यस्वरूप उससे विवाह कर लिया। इसके बाद उन दोनों ने खोई हुई सत्ता पुनः प्राप्त करने के लिए दिल्ली को प्रस्थान किया। इसी बीच में 'चालीस' ने रज़िया के सौतेले भाई बहराम को सिंहासन पर बिठला दिया था। हेग लिखते हैं कि "इसमें सन्देह नहीं कि साधारणतया सिंहासन

भी 'चालीस' में से ही किसी एक को मिल जाता, यदि उनकी पारस्परिक ईर्ष्या ने उन्हें अपने में से एक को चुनने से न रोका होता।" सुल्ताना तथा उसके पति की फिर हार हुई और दूसरे दिन (१४ अक्टूबर १२४० ई०) हिन्दुओं ने जिन्हें उन्होंने अपनी सहायता के लिये बुलाया था, उन दोनों का बध कर दिया।

बहराम से बलबन तक

अगले छः वर्षों (१२४०–४६ ई०) में निरन्तर उपद्रव होते रहे। स्वयं बहराम का, जो 'निर्भीक, साहसी तथा रक्त-पिपासु' था, राजनिर्माताओं ने दो वर्ष के भीतर ही बध कर दिया और इल्तुतमिश के एक नाती अलाउद्दीन मसूद को कठपुतली के रूप में सिंहासन पर बिठला दिया। अत्याचारी तथा व्यभिचारी होने के कारण उसे भी शीघ्र ही कारागार तथा मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा (१२४२–४६)। समस्त देश में अव्यवस्था फैल गई। पूर्व में बिहार तथा बंगाल और पश्चिम में सिन्ध तथा मुल्तान दिल्ली से लगभग पृथक हो गये। ऊपरी पंजाब को मंगोलों ने नष्ट भ्रष्ट कर दिया और खोक्खरों ने उस पर अधिकार कर लिया। उन्हीं उपद्रवों के बीच व्यभिचारी मसूद सिंहासन से हटा दिया गया और उसके संयमी तथा पुण्यात्मा चचा नासिरुद्दीन महमूद को गद्दी सौंप दी गई। इस सुल्तान ने बीस वर्ष (१२४६-६६ ई०) राज्य किया। किन्तु जैसा कि हम पहले कह आये हैं, इस युग में वास्तविक शासक, सिंहासन के पीछे शक्ति, बलबन था। वह तुर्की ग़ुलाम था जिसे इल्तुतमिश ने ग्वालियर की रण-यात्रा के बाद १२३२ ई० में दिल्ली में खरीदा था। सुल्ताना रज़िया के समय में उसने मृगयाध्यक्ष (अमीरे शिकार) के पद पर कार्य किया। बहराम तथा मसूद के शासन-काल में वह शाही परिवार का मुख्य प्रबन्धक बना दिया गया और रेवाड़ी तथा हाँसी की जागीरें उसे दे दी गईं। बाद में उसने उलुगखाँ की उपाधि प्राप्त कर ली और अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के साथ कर दिया। महमूद के बीस वर्ष के राज्य-काल में मुख्य-मन्त्री के रूप में उसने इतनी शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली कि सुल्तान ने उसे अपना उत्तराधिकारी नामनिर्देशित कर दिया और इस निर्णय के अनुसार १२६६ ई० में वह सिंहासन पर बैठा।

नासिरुद्दीन का निजी इतिहास संक्षेप में कहा जा सकता है। उसके इतने लम्बे समय तक राज्य करते रहने का एक कारण था। अपने पूजा-पाठ में वह इतना व्यस्त रहता था कि उलुगखाँ के शासन में हस्तक्षेप करने का उसे अवसर ही न मिलता था। 'शासन की बागडोर' बलबन के हाथों में थी। धार्मिक तथा सुशील नासिरुद्दीन के सम्बन्ध में अनेक किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं। "सत्य यह प्रतीत होता है कि युवक सुल्तान में संयम, मितव्ययिता तथा व्यावहारिक धार्मिकता के वे गुण विद्यमान थे जिनका उस जैसे व्यक्तियों में मिलना दुर्लभ होता है। उसे सुलेखन कला में रुचि थी, जिससे अपना अवकाश का समय वह कुरान की प्रतिलिपियाँ तैयार करने में बिताया करता था। इन्हीं गुणों के कारण उसकी इतन

अतिरञ्जित प्रशंसा की गई है।" बीच में एक थोड़े समय को छोड़ कर सुल्तान के शेष राज्य-काल में बलबन ने राज्य के सभी विषयों में अधिनायक की भाँति कार्य किया।

बलबन का अधिनायकत्व

'इस प्रकार शक्ति तथा प्रभुत्वरूपी बाज़ जब बलबन की पवित्र कलाई पर रख दिया गया' तो उसने चालीस वर्ष तक (१२४६-८६ ई०) हिन्दुस्तान पर शासन किया। इसमें से आधे समय उसने मुख्य मन्त्री और शेष में सुल्तान के रूप में कार्य किया। पहले से ही १२४५ ई० में उसने उच के स्थान पर मगोलों को हरा कर देश से मार भगाया था और इस प्रकार सैनिक यश प्राप्त कर लिया था। उसके सामने तीन मुख्य काम थे : (१) मगोलों को दूर रखना, (२) विद्रोही तथा कुचक्री मुस्लिम प्रतिद्वन्दियों का दमन करना और (३) हिन्दुओं के विद्रोहों को कुचलना। इन सब में उसे उच्च कोटि की सफलता प्राप्त हुई।

सबसे पहले उद्दण्ड हिन्दू-राजाओं को बलबन का प्रहार झेलना पड़ा। १२४६ ई० में लम्बी लड़ाई के बाद कन्नौज राज्य में स्थित तलसन्दा का दुर्ग हस्तगत कर लिया गया। इसके उपरान्त कड़ा तथा कालिञ्जर के प्रदेशों को वश में किया गया, और अन्त में उसने मेवात तथा रणथम्भौर का विध्वंस किया (१२४८ ई०)। मेवात के हिन्दुओं का दमन करना सबसे अधिक कठिन था और उन्होंने दीर्घकाल तक मुसलमानों के विरुद्ध लूटमार जारी रक्खी। सुल्तान होने से पहले उलुगखाँ ने (१२५९ ई०) उन पर अन्तिम चढ़ाई की और उस अवसर पर उसने अपनी वह सब क्रूरता प्रदर्शित कर दी जिसके लिए उसका राज्य-काल इतना बदनाम है। लगभग १२,००० काफिरों का बिना किसी भेद भाव के सहार कर दिया गया और उनके २५० नेता बन्दी बना लिये गये। लगभग २१,००,००० टंका मूल्य का धन दिल्ली लाया गया। ग्वालियर, चँदेरी, मालवा और नारवर का भी इसी प्रकार १२५१-५२ ई० में दमन कर दिया गया था।

उलुगखाँ के मुस्लिम प्रतिद्वन्दियों ने इस सर्वशक्तिमान मुख्य मन्त्री को अपदस्थ करने के लिए षड्यन्त्र रचा। १२५३ ई० में वे सहज विश्वासी सुल्तान को अपने वश में कर लेने में सफल हो गये। कुछ समय के लिये बलबन को उसकी रेवाड़ी तथा हाँसी की जागीर में निर्वासित कर दिया गया और उसके स्थान पर षड्यन्त्रकारियों का मुखिया रैहन, जो हिन्दू से मुसलमान हो गया था, मुख्यमन्त्री नियुक्त हुआ। किन्तु बलबन का यह पराभव एक वर्ष से अधिक नहीं चला। रैहन के अनुयायियों की पारस्परिक ईर्ष्या तथा तुर्की अमीरों के विरोध के कारण अपहरणकर्ता के विरुद्ध एक शक्तिशाली संगठन बन गया। देश के सभी भागों के अमीरों और मलिकों ने एक विशाल सेना एकत्रित कर ली और १२५३ ई० में बलबन के नेतृत्व में रैहन के विरुद्ध कूच कर दिया। सुल्तान को बाध्य होकर उलुगखाँ को

उसके पूर्व पद पर नियुक्त करना पड़ा। रैहन को उसकी बदायूँ की जागीर में भेज दिया गया।

१२५५ ई० में अवध तथा सिन्ध के मुसलमान सूबेदारों ने बलबन के अधिनायकत्व को चिनौती देने का अन्तिम प्रयत्न किया। राजधानी के कुछ अमीरों और मलिकों तथा कुछ असन्तुष्ट हिन्दुओं से मिलकर उन्होंने एक सयुक्त मोर्चा खड़ा करना चाहा। किन्तु उनके दल शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गये। इसी प्रकार १२५७ ई० में नुयिनसरी के नेतृत्व में मंगोल-आक्रमण भी विफल रहा। दो वर्ष उपरान्त (१२५६ ई०) चिनगिज़खाँ के नाती हलाकू ने दिल्ली दरबार में अपना एक राजदूत भेजा। एक दरबार में, जिसका धार्मिक सुल्तान ने स्वयं सभापतित्व किया, उसका बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया गया। इसके बाद बलबन के राज्यारोहण तक (१२६६ ई०) हमें तत्कालीन इतिहासकारों से अधिक कुछ सुनने को नहीं मिलता।

गुलामों में सर्वश्रेष्ठ बलबन

बीस वर्ष से अधिक की महत्वपूर्ण सेवाओं के कारण बलबन राज्य का प्रमुख राजनीतिज्ञ तथा सैनिक बन गया था। रैहन की घटना से नासिरुद्दीन का विश्वास हो गया था कि बलबन के बिना राज्य का कार्य नहीं चल सकता। इसलिए अपनी मृत्यु से पहले (१२६६ ई० में) सुल्तान ने उलुगखाँ को सिंहासन के लिए अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया, नासिरुद्दीन के कोई औरस पुत्र नहीं था। इसके अतिरिक्त राज्य में अन्य कोई इतना योग्य व्यक्ति नहीं था जो उस समय की कठोर परिस्थिति का सामना कर सकता। इसलिए नासिरुद्दीन ने अपने मुख्य मंत्री को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके उसके तथा अपनी प्रजा दोनों के प्रति न्याय किया। बलबन ने अगले २० वर्षों में (१२६६ से ८६ ई०) सुल्तान के रूप में अत्यधिक योग्यता के साथ शासन करके नासिरुद्दीन के इस निर्णय को पूर्णतया उचित सिद्ध कर दिया।

'तारीखे-फ़ीरोज़शाही' का रचयिता जियाउद्दीन बरनी लिखता है कि—'जब वह सिंहासन पर बैठा तो उसने उसे एक नया तेज प्रदान कर दिया, उसने शासन में व्यवस्था कायम की और उन संस्थाओं की क्षमता को पूर्ववत् स्थापित किया जिनकी शक्ति नष्ट अथवा शिथिल हो चुकी थी। सरकार की प्रतिष्ठा तथा सत्ता की पुनः स्थापना हुई और उसके कठोर नियमों तथा दृढ़ संकल्प के कारण राज्य भर के सभी ऊँचे तथा नीचे व्यक्तियों ने उसकी सत्ता के सामने समर्पण कर दिया। सभी लोगों के हृदयों में उसका भय तथा आतंक बैठ गया, किन्तु उसके न्याय तथा लोक-हित-कामना के कारण प्रजा उसके पक्ष में हो गई और उसके सिंहासन की कट्टर समर्थक बन गई।'

'रक्त तथा तलवार' का शासन

लेनपूल लिखते हैं कि "गुलाम, भिश्ती, शिकारी, सेनानायक, राजनीतिज्ञ तथा सुल्तान आदि विभिन्न रूपों में कार्य करनेवाला बलबन दिल्ली-शासकों की दीर्घ परम्परा में सबसे अधिक आकर्षक व्यक्तियों में से एक है।" यह धारणा सुल्तान गियासुद्दीन बलबन ने अपने बीस वर्ष के 'रक्त तथा तलवार' के शासन से लोगों की स्मृतियों में बिठला दी थी। उसमें कोमल भावनाओं का अभाव नहीं था, क्योंकि तत्कालीन इतिहासकारों ने अनेक ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जिनसे सुल्तान के आँसू निकल पड़े थे। किन्तु यथार्थवादी होने के नाते वह युग की आवश्यकताओं को भली-भाँति समझता था, इसलिए उसने यत्नपूर्वक उन गुणों को विकसित किया, जो उसका महत्वाकांक्षापूर्ण योजनाओं को सफल बनाने में योग दे सकते थे। उसने अपने आदर्शों को सामने रखकर कार्य किया और इस विषय में उसने न अपने साथ रियायत की और न दूसरों के। अपने राज्यारोहण के समय तक उसने जीवन के आमोद-प्रमोद से अपने को वंचित नहीं रखा था, किन्तु जैसे ही वह सिंहासन पर बैठा उसने कठोर गम्भीरता धारण कर ली जिससे वे लोग जो पहले उसके समकक्ष थे, आश्चर्यान्वित तथा भयग्रस्त हो गये। बरनी के वर्णन से उसके चरित्र का सही चित्र उपलब्ध होता है.—

प्रताप—'सुल्तान गियासुद्दीन बलबन को शासन-सम्बन्धी विषयों का अनुभव था। वह मलिक से खान और खान से सुल्तान बना था।...... ......पहले तथा दूसरे वर्ष में उसने बहुत ठाट-बाट बनाया और वैभव तथा ऐश्वर्य का प्रदर्शन किया। उसके साज-सामान तथा तड़क-भड़क को देखने के लिए हिन्दू तथा मुसलमान सौ-सौ और दो दो सौ कोस से आया करते तथा विस्मय से चकित हो जाते थे। दिल्ली में इससे पहले किसी भी सुल्तान ने इतने ठाट-बाट और वैभव का प्रदर्शन नहीं किया था। अपने शासन के बीस वर्षों में सिंहासन के प्रताप, सम्मान तथा गौरव की जितनी रक्षा उसने की उससे अधिक और किसी के लिए सम्भव नहीं थी। उसके कुछ चाकरों ने जो एकान्त में उसके साथ रहते थे, मुझे विश्वास दिलाया कि हमने सुल्तान को पूरी पोशाक से कम में कभी नहीं देखा। चालीस वर्ष के काल में जब वह खान तथा सुल्तान था, उसने कभी नीच कुल तथा पेशे के लोगों से बातचीत नहीं की और न कभी मित्रों अथवा अपरिचितों से इतनी घनिष्ठता बरती जिससे सुल्तान की प्रतिष्ठा में किसी प्रकार की न्यूनता आती। उसने कभी किसी के साथ परिहास नहीं किया और न अपनी उपस्थिति में किसी को मजाक करने दिया; वह न स्वयं कभी जोर से हँसता और न किसी को दरबार में हँसने की आज्ञा देता। जब तक वह जीवित रहा, किसी पदाधिकारी अथवा परिचित का किसी नीच कुल अथवा स्थिति के व्यक्ति की नौकरी के लिए सिफ़ारिश करने का साहस नहीं हुआ। न्याय के शासन में वह कठोर था और अपने जाति बिरादरीवालों, पुत्रों, मित्रों अथवा नौकरों, किसी के साथ भी पक्षपात नहीं करता था। यदि उनमें से कभी कोई अन्यायपूर्ण कार्य करता तो वह पीड़ित व्यक्ति के कष्ट को दूर करने तथा उसे सान्त्वना देने

से कभी न चूकता। कोई भी व्यक्ति अपने ग़ुलामों, दासियों, घुड़सवारों अथवा पैदलों के साथ कठोरता का व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकता था।

न्याय—कुछ प्रासंगिक घटनाओं की समीक्षा करने से स्पष्ट हो जायगा कि बरनी का कथन अतिरञ्जित नहीं है। बदायूँ का मलिक बकबक एक प्रभावशाली अमीर था और ४,००० घुड़सवार रखता था। किन्तु जब उसने अपने एक नौकर को कोड़ों से पिटवाकर मरवाडाला तो बलबन ने उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार करवाया। इसके अतिरिक्त उसने उस समाचारदाता को जिसने इस अपराध की सूचना सुल्तान को नहीं दी थी, नगर के फाटक पर लटकवा दिया। इसी प्रकार सुल्तान ने अवध के जागीरदार हैबातखाँ के जिसने शराब के नशे में अपने एक नौकर को मार डाला था, पाँच सौ कोड़े लगवाये और फिर उसे मृत पुरुष की विधवा को सौंप दिया और सिफारिश की कि, "यह हत्यारा मेरा ग़ुलाम था, अब तुम्हारा है। जैसे इसने तुम्हारे पति को छुरा भोंक कर मार डाला, वैसे ही तुम इस को मार डालो।" अभागे अमीर ने २०,००० टंका देकर उस स्त्री से अपना जीवन तथा मुक्ति खरीद ली और शेष जीवन भर लज्जा से अपना सिर नीचे किये रहा।

लूट-मार का दमन—सुल्तान ने शान्ति, व्यवस्था तथा सुरक्षा की स्थापना में भी ऐसी ही कठोरता और निर्ममता का परिचय दिया। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसने अपने राज्य-काल के पहले ही वर्ष में 'अपनी परिपक्व निर्णय-बुद्धि तथा अनुभव को सबसे पहले सेना के पुन: संगठन में लगाया, क्योंकि सेना सुशासन का स्रोत तथा साधन है। पुरानी तथा नई घुड़सवार और पैदल फौजें अनुभवी मलिकों तथा उन सरदारों के नायकत्व में रख दी गई जो अपने काम में प्रथम श्रेणी के माने जाते थे और जो वीर, प्रतापी तथा राजभक्त थे।' दोआब के मेव लोगों ने विशेषकर खतरनाक कार्य आरम्भ कर दिये थे। वे इसी प्रकार गिरोह बनाकर घूमा करते थे जैसे छ: शताब्दियों बाद ठग, और सब दिशाओं में फैल गये थे। दिल्ली तक को उन्होंने इतना त्रस्त किया कि तीसरे पहर की नमाज़ के बाद नगर के फाटक बन्द करने पड़ते थे। वे उन कहारों तथा स्त्रियों तक के कपड़े उतरवा लेते जो नगर की दीवाल के भीतर स्थित जलाशयों से पानी भरने जाती थीं। दिल्ली से लेकर बंगाल तक समस्त देश में सड़कें तथा जंगल डाकुओं से भरे हुए थे। इसलिए अपने राज्यारोहण के दूसरे वर्ष ही बलबन जी-जान से उनका नाश करने में जुट गया। जंगलों को साफ करवाया गया, उनमें छिपे हुए मेवों को मारडाला गया, क़िले बनवाये गये और सब दिशाओं में पुलिस की चौकियाँ स्थापित की गईं। इसके अतिरिक्त सावधानी के विचार से उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों के गाँवों और नगरों को शक्तिशाली अमीरों को जागीरों के रूप में दे दिया गया। "बलबन स्वयं कई महीने तक पटियाली, कम्पिल, भोजपुर और जलाली के जिलों में रहा, सब डाकुओं को नष्ट कर दिया, उन स्थानों पर क़िले बनवाये, उनकी रक्षा के लिए अफ़ग़ान सैनिक नियुक्त किये जिन्हें निकटवर्ती गाँवों में निर्वाह

के लिए भूमि दी गई, और इस प्रकार एक शताब्दी के लिए बंगाल तथा दिल्ली के बीच के मार्गों पर शान्ति स्थापित की।"

हिन्दुओं का दमन—जब १२६० ई० में कटेहर के हिन्दुओं ने विद्रोह किया तो उनका इतनी क्रूरता से दमन किया गया कि 'हौज रानी के मैदानों तथा दिल्ली के फाटकों की स्मृति में ऐसा दण्ड कभी नहीं दिया गया था, और न किसी ने ऐसे भीषण काण्ड के विषय में सुना ही था। सुलतान की आज्ञा से अनेक विद्रोहियों को हाथियों के पैरों के नीचे फेंक दिया गया और क्रूर तुर्कों ने हिन्दुओं के शरीरों के दो-दो टुकड़े कर दिये। लगभग सौ व्यक्तियों की सिर से पैर तक जीवित खाल खिचवाली गई, उनकी खालों में भूसा भर दिया गया और उनमें से कुछ नगर के फाटकों पर लटकवा दी गईं। उपद्रवकारियों के रक्त की नदियाँ बहने लगीं, प्रत्येक गाँव तथा जंगल के पास मरे हुओं के ढेर देखने को मिलते थे, और शवों की दुर्गन्ध गंगा तक फैल गई।' आठ वर्ष की अवस्था से ऊपर के सभी पुरुषों का बध कर दिया गया और स्त्रियों को ग़ुलाम बना लिया गया। इस नरमेध तथा हत्याकाण्ड के परिणामस्वरूप बदायूँ, अमरोहा, सँभल तथा गन्नौर के ज़िलों में तीस वर्ष तक श्मशान की शान्ति का राज्य रहा। १२६८-६९ ई० में फिर बलबन ने नमक की पहाड़ियों के प्रदेश पर आक्रमण किया, हिन्दुओं को हराया तथा लूटा और इतने घोड़े पकड़ लिये कि शिविर में एक-एक घोड़ा तीस-तीस और चालीस-चालीस टका में बिका। बलबन को हिन्दुओं पर विश्वास नहीं था और उसने उन्हें कभी किसी पद पर नियुक्त करने का विचार नहीं किया।

मंगोल—यद्यपि मंगोल अनेक बार हारे और भारत से खदेड़ दिये गये, तथापि उनके आक्रमण कभी पूर्णतया बन्द नहीं हुए। पूर्व सुलतान के राज्य-काल में उनके नेता हलाकू के राजदूत का जो स्वागत किया गया था, उसके परिणामस्वरूप तब्रिज तथा दिल्ली के दरबारों के बीच कूटनीतिक आदान-प्रदान अवश्य हुआ, किन्तु यह केवल एक विराम-सन्धि थी। पश्चिमोत्तर सीमा पर मंगोलों का संकट सदैव उपस्थित रहता था, इसलिए बलबन को अपने सम्पूर्ण राज्यकाल में उस प्रदेश में विशाल सेनाएँ रखना पड़ीं। पहले उसने अपने चचेरे भाई शेरख़ाँ शंकर को पंजाब का भार सौंपा। किन्तु नमक की पहाड़ियों की चढ़ाई के समय, जिसका हम पहले वर्णन कर आये हैं, बलबन ने देखा कि सीमा-प्रान्तों की सामन्ती व्यवस्था में अनेक दोष हैं, इसलिए उसने शेरखाँ को हटाकर अपने पुत्रों—मुहम्मद तथा बुगराख़ाँ—को नियुक्त किया (१२७० ई०)। शेरख़ाँ ने विद्रोही प्रकृति का परिचय दिया, इसलिए उसे दरबार में बुला लिया गया जहाँ सन्देहजनक परिस्थितियों में उसकी मृत्यु हो गई, कहा जाता है कि बलबन की इच्छा से उसे विष देकर मार डाला गया था।

बलबन का सबसे बड़ा पुत्र तथा युवराज राजकुमार मुहम्मद योग्य तथा विचारशील सूबेदार था। कवि अमीर ख़ुसरो तथा अमीर हसन उसके दरबार का

सुशोभित करते थे। "कठोर तथा बूढ़े सुल्तान की सम्पूर्ण आशाएँ उसीमें केन्द्रित थीं, उसी के लिए 'चालीस' का नाश किया गया तथा निकट सम्बन्धियों का रक्त बहाया गया था।—' जाने से पहले उसे नियमपूर्वक युवराज नाम-निर्देशित तथा राजत्व के कुछ चिह्नों से विभूषित कर दिया गया था।" किन्तु यह सब निरर्थक सिद्ध हुआ, क्योंकि यद्यपि १२७६ ई० में मंगोल पिट गये थे, किन्तु १२८५ में वे फिर आ धमके। इस बार राजकुमार को विजय का भारी मूल्य चुकाना पड़ा, युद्ध में वह स्वयं मारा गया। पिता को अत्यधिक शोक हुआ। इसके बाद उसने सदैव शहीद कह कर उसका उल्लेख किया।

तुगरिल का विद्रोह—बंगाल साम्राज्य का सबसे अधिक दुर्दमनीय भाग था। उसकी राजधानी लखनौती दिल्ली में बलगाकपुर (विद्रोह का नगर) के नाम से विख्यात थी। उसका सूबेदार तुग़रिल बलबन का विश्वसनीय ग़ुलाम था। किन्तु १२७१ ई० में सुल्तान की रुग्णावस्था तथा मंगोल-आक्रमण से अवसर पाकर उसने 'अपने मस्तिष्क में विद्रोह की योजना बनाई'। उसने राजचिह्न धारण किये और अपने नाम से खुतबा पढ़वाया। बलबन ने दो सेनापतियों—पहले अमीनखाँ और फिर मलिक तार्गी—को भेजा, किन्तु उन दोनों को हार खानी पड़ी। उनकी सेनाओं को हराने का जितना श्रेय शत्रु के बाणों को था, उसके सोने को उससे कम न था। क्रोधोन्मत्त सुल्तान ने बुढ़ापे के आवेश में आकर उन दोनों सेनापतियों को अयोध्या के फाटकों पर लटकवा दिया और स्वयं शत्रु से लोहा लेने की तैयारियाँ करने लगा। यद्यपि वर्षा प्रारम्भ हो गई थी, फिर भी बलबन ने अपने छोटे पुत्र बुग़राखाँ को साथ लेकर एक विशाल नावों के बेड़े के साथ यमुना तथा गंगा में होकर यात्रा की। जब तक वह अवध पहुँचा, उसकी सेना की संख्या २,००,००० तक पहुँच गई। यह समाचार पाकर तुग़रिल भाग खड़ा हुआ। वह अपनी सेना तथा लखनौती के अधिकतर निवासियों के साथ जाजनगर (आधुनिक उड़ीसा) को भाग गया। सुल्तान की सेना ने उधर भी उसका पीछा किया और मलिक मुक़द्दिर के नेतृत्व में जाँच पड़ताल करनेवाले एक दल ने बाणों से उसे मार गिराया, इस साहसिक कार्य के कारण मुक़द्दिर को तुग़रिल-कुश (तुग़रिल का बध करनेवाला) की उपाधि मिल गई। इसके बाद प्रतिशोध का कार्य आरम्भ हुआ जिसे देखकर उन लोगों का भी दिल दहल गया जो सुल्तान के 'रक्त तथा तलवार' के शासन से अभ्यस्त हो चुके थे। लखनौती के दो मील लम्बे बाज़ार के दोनों किनारों पर खूँटे गाड दिये गये और अभागे विद्रोहियों तथा उनके परिवारों के सदस्यों को उन पर ठोंक दिया गया। इसी प्रकार के और भी अत्याचार किये गये। जब बलबन की प्रतिशोध की प्यास तृप्त हो गई तब उसने बुग़राखाँ को उस बधशाला को देखने के लिए बुलाया और उससे ये स्मरणीय शब्द कहे "जो मैं कहूँ उसे समझो और यह मत भूलो कि यदि हिन्द, सिन्ध, मालवा, गुजरात, लखनौती अथवा सुनारगाँव के सूबेदारों ने दिल्ली के सिंहासन के विरुद्ध तलवार उठाई और विद्रोह किया तो जो दण्ड तुग़रिल तथा

उसके आश्रितों को मिला है वही उन्हें उनकी स्त्रियां, बच्चों तथा साथियों को भुगतना पड़ेगा।" १२८२ ई० में राजधानी को लौटने पर दिल्ली-सेना के भगोड़ों तथा सन्देहास्पद व्यक्तियों को भी यही दुर्भाग्य देखना पड़ा होता, किन्तु नगर के कोतवाल की सिफ़ारिश के कारण वे बच गये। बुग़राखाँ को बंगाल का भार सौंप दिया गया जहाँ वह तथा उसके वंशज १३३९ ई० तक राज्य करते रहे।

ग़ुलाम-वंश का अन्त

जब कि बंगाल के प्रान्त में जो अत्यधिक उपद्रवी सिद्ध हो चुका था, बलबन के उत्तराधिकारी आधी शताब्दी तक और शासन करते रहे, दिल्ली में ग़ुलाम-वंश के उस महानतम सुल्तान की मृत्यु के बाद पाँच वर्ष भी न बीतने पाये थे कि उसके उत्तराधिकारियों की सत्ता उलट दी गई। बलबन स्वयं शाहज़ादा मुहम्मद की दुःखद मृत्यु के एक वर्ष के भीतर ही १२८६ ई० में मर गया। सुल्तान की आयु उस समय ८० वर्ष से अधिक हो चुकी थी और यद्यपि वह इस वज्राघात के उपरान्त भी अपने शोक को छिपाये हुए, सार्वजनिक रूप से राज-काज चलाता रहा, किन्तु कहा जाता है कि उसके हृदय को इतनी गहरी चोट लगी थी कि जब वह अकेला होता तो शोक के कारण अपने वस्त्र फाड़ता और सिर पर धूल डालता। अपनी मृत्यु से पहले उसने बुगराखाँ को अपना उत्तराधिकारी नाम-निर्देशित किया। किन्तु उस प्रमादी तथा विषयासक्त राजकुमार ने इस उत्तर-दायित्व को सँभालने से इन्कार किया और अन्त में निराश पिता ने 'शहीद राजकुमार' मुहम्मद के पुत्र कैख़ुसरो के लिए सिंहासन छोड़ दिया। फिर भी दिल्ली की समस्याओं का इतनी सरलता से हल नहीं हो सकता था। जैसे ही बूढ़े सुल्तान ने आँखें मूँदीं, तुर्की अमीरों ने एक दूसरे अनुभवहीन युवक कैकुबाद (बुग़रा ख़ाँ का पुत्र) को सिंहासन पर बिठला दिया। कैकुबाद का पालन-पोषण अपने दादा के कठोर नियन्त्रण में हुआ था, इसलिए उसने अपने इस पद का उपयोग स्वयं अपने को तथा अमीरों को पतित करने के लिये किया। सब प्रकार के इन्द्रिय भोगों से सम्बन्ध रखनेवाले उत्सव दरबार के दैनिक कर्म बन गये, और दिल्ली के प्रभावशाली कोतवाल के भतीजे मलिक निज़ामुद्दीन ने राज्य की सम्पूर्ण वास्तविक शक्ति का अपहरण कर लिया। कैख़ुसरो की जिसे बलबन ने उत्तराधिकारी नाम निर्देशित किया था, निर्दयतापूर्वक हत्या कर दी गई और इसी प्रकार पूर्व सुल्तान के समय के अनेक अमीरों को विभिन्न अपराधों में फाँसी दे दी गई। सुल्तान का वज़ीर ख़्वाजा ख़तीर भी अपमान से न बच सका, गधे पर बिठला कर उसे राजधानी की सड़कों पर घुमाया गया।

इस प्रकार का अविवेकपूर्ण अत्याचार अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। मंगोलों के आक्रमण के रूप में प्रतिशोध की देवी ने उसे आ दबाया। अपने नेता ग़ज़नी के तमरख़ाँ के नेतृत्व में उन्होंने पंजाब को रौंद डाला और लाहौर को लूटा। किन्तु बलबन के समय की सुयोग्य सेना ने दिल्ली को बचा लिया। बदले

के रूप में नये मुसलमानों की (वे मंगोल जिन्होंने इस्लाम अंगीकार कर लिया था इसी नाम से पुकारे जाते थे) जो दिल्ली के निकट बस गये थे, हत्या कर दी गई। इसी स्थिति में प्रमादी बुगराख़ाँ ने भी एक विशाल सेना लेकर दिल्ली की ओर कूच किया। ऊपर से तो वह सुल्तान को अभिवादन करने आया था, किन्तु वास्तव में उसका उद्देश्य था अपने पुत्र को निज़ामुद्दीन के अत्याचारों से बचाना। जब निराश होकर उसे राजधानी छोड़नी पड़ी तो उसने भावुकतापूर्वक कैकुबाद से विदा माँगी और चलते समय आह भर कर कहा, "शोक! अपने पुत्र से यह मेरी अन्तिम भेंट है और दिल्ली के भी यह अन्तिम दर्शन है।" शीघ्र ही घटनाओं ने बुगराख़ाँ के इस कथन को सत्य सिद्ध कर दिया। तुर्की तथा खलजी दलों में संघर्ष आरम्भ हो गया। निज़ामुद्दीन को अपने पद से हटा दिया गया और कुछ समय बाद विष देकर मार डाला गया, अभागे कैकुबाद को लक्वा मार गया और जब वह अपने महल में असहाय पड़ा हुआ था उसी समय एक सैनिक ने पैर की ठोकर से उसका प्राणान्त कर दिया। इस प्रकार दिल्ली के अन्तिम ग़ुलाम सुल्तान को एक ग़ुलाम की मौत मरना पड़ा। उसके शव को बिना किसी शिष्टाचार के उसी के बिस्तर में लपेट कर यमुना में फेंक दिया गया। सल्तनत के 'आरिज़े मुमालिक' जलालुद्दीन फीरोज़ खलजी ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। १३ जून १२९० ई० को किलूघरी में उसका राज्याभिषेक हुआ और उसने जलालुद्दीन फीरोज़ खलजी की उपाधि धारण की। इस प्रकार दिल्ली में एक नये राजवंश की स्थापना हुई जिसने अगले ३० वर्ष में मुसलमानों की विजय पताका को एक मंज़िल आगे, सुदूर दक्षिण में फहराया।

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्	
७१२	सिन्ध पर अरबों का आक्रमण।
१००१	महमूद ग़ज़नवी का भारत पर प्रथम आक्रमण।
११८६	मुहम्मद ग़ोरी ने लाहौर के अन्तिम ग़ज़नवी शासक की सत्ता को उलट दिया।
१२०६–१०	कुतुबुद्दीन ऐबक, दिल्ली का प्रथम ग़ुलाम सुल्तान।
१२२१–२२	चिनगिज़ख़ाँ का भारत पर आक्रमण।
१२४०	मंगोल लोग समस्त रूस से कर वसूल करते हैं।
१२५८	हलाकू द्वारा बग़दाद का विध्वंस।
१२६०–९४	हलाकू का भाई कुबलाख़ाँ हंगेरी से लेकर चीन तक शासन करता है।
१२७१–९५	मार्को पोलो की यात्राएँ।
१२८६	महानतम ग़ुलाम सुल्तान बलबन की मृत्यु।
१२९०	जलालुद्दीन फ़ीरोज़ खलजी का राज्यारोहण।

१२९६–१३०७	पंजाब पर मंगोलों के बार-बार धावे।
१३०३	अलाउद्दीन खलजी द्वारा चित्तौर की लूट।
१३१०–११	मलिक काफूर ने मुस्लिम पताका मदुरा तथा रामेश्वरम् तक फहराई (?)।
१३१८	देवगिरि के यादव राज्य का अन्त हरपालदेव की जीवित खाल खिचवाई गई। मार्सेई में चार फ्रांसिस्की धर्म-द्रोह के अपराध में जीवित जला दिये गये।

५

प्रथम मुस्लिम साम्राज्य : खलजी

दयालु सुलतान फीरोज़

सत्तर वर्ष का जो सरदार १३ जून १२६० को किलूघरी में सिंहासन पर बैठा वह इतना दयालु तथा साधु स्वभाव का था कि उसके लिये अधिक दिनों तक मुकुट धारण करना सम्भव न हो सका। जिस कबीले में उसका जन्म हुआ था उसके लोग दीर्घकाल से अफ़ग़ानिस्तान तथा भारत में निवास करते आये थे इसीलिये हाल में आये अन्य तुर्क उनसे घृणा करते थे। जब फीरोज़ ने लाल किले में प्रवेश किया तो उसके नेत्रों से आँसुओं की धार बह निकली और उसने राजत्व की सारहीनता तथा अपनी अयोग्यता पर एक व्याख्यान दे डाला, उसके निकट खड़े उत्साही योद्धा बूढ़े रुदनशील सुलतान के इस व्यवहार को न समझ सके। किन्तु उसके इस आचरण से लोगों को जो निराशा हुई, उसे उसने अपने दरबारियों तथा सम्बन्धियों में खुले दिल से उपाधियाँ तथा सम्मान बाँट कर और किलूघरी में एक नया नगर (शहरे नौ) बनवाकर, कुछ अंशों में दूर किया। उसने तुर्कों को भी जिन्होंने उसके राज्यारोहण का विरोध किया था, प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। उन्हें भी उसने उपाधियाँ तथा पद प्रदान किये। उदाहरण के लिये, बलबन के भतीजे मलिक छज्जू को कड़ा-मानिकपुर की जागीर का भार सौंपा गया। किन्तु कुछ ही महीने बीतने पाये थे, कि दिन पर दिन यह स्पष्ट होने लगा कि जलालुद्दीन फीरोज़ को बुढ़ापे की दुर्बलता ने आ घेरा है। वास्तव में अत्यन्त दयालु होने के कारण वह उस 'रक्त तथा तलवार' के युग में सुलतान होने के योग्य न था। शीघ्र ही वह संकटों के ऐसे भँवर में जा फँसा जिससे उसके सिर से मुकुट ही नहीं बल्कि धड़ से सिर भी उड़ गया।

सुलतान की दुर्बलता से लाभ उठाने वाला पहला व्यक्ति पुराने राजवंश का वह सदस्य था जिसे फीरोज़ ने प्रचलित परिपाटी के अनुसार फाँसी पर न लटका कर, जागीर प्रदान की थी। १२६१ ई० में मलिक छज्जू ने कड़ा में अपने को सुलतान घोषित कर दिया, अपने नाम से ख़ुतबा पढ़वाया और मुग़ीसउद्दीन की

उपाधि धारण की। उसे इतने से ही सन्तोष न हुआ, इसलिये वह अपने वंश के सिंहासन पर पुनः अधिकार करने के लिये दिल्ली की ओर चल दिया। हिन्दुस्तान के रावत और पाइक 'चींटियों और टिड्डियों की भाँति' उसके झण्डे के नीचे एकत्र हो गये। किन्तु बूढ़े सुल्तान के पुत्र अरकलीखाँ की वीरता की विद्रोहियों पर विजय हुई। वे पराजित हुये और जलालुद्दीन के सामने उपस्थित किये गये, उनके कंधों पर जुए रखे थे, उनके हाथ गर्दन के पीछे बँधे हुये थे, धूल तथा गन्दगी से वे ढके हुये थे और उनके कपड़े मैले थे। उनको इस प्रकार असहाय तथा अपमानित देखकर फीरोज़ का हृदय द्रवित हो गया और उसके नेत्रों से आँसू निकल पड़े, उसने पूर्व राजवंश के प्रति उनकी भक्ति की सराहना की और उनके साथ मेहमानों जैसा बर्ताव किया। विद्रोहियों के नेता मलिक छज्जू को बहुत-सी भेंट, भोजन, वस्त्र, फल तथा शराब देकर मुलतान भेज दिया गया।

फीरोज़ की दयालुता उस समय पराकाष्ठा को पहुँच गई जब उसने लुटेरों और ठगों के साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि विद्रोहियों के साथ किया था। जब उन्हें हज़ारों की संख्या में पकड़कर सुल्तान के सामने उपस्थित किया गया तो उसने उन्हें चोरी की बुराइयों पर उपदेश दिया, फिर ऐसा अपराध न करने की चेतावनी दी और नावों में बिठला कर गङ्गा के द्वारा बंगाल भिजवा दिया।

जब सल्तनत का जहाज़ इस प्रकार उथले जल की ओर लुढ़क रहा था, उसी समय शाही गृह-प्रबन्धक अहमद चाप आदि दूरदर्शी अमीरों ने परस्पर परामर्श किया, किन्तु ताजुद्दीन कूची आदि ने जो अधिक उग्र स्वभाव के थे, जलालुद्दीन को ककड़ी की भाँति काट डालने तथा सिंहासन हड़प लेने का विचार प्रकट किया। जब यह बकवास फीरोज़ के कानों में पहुँची तो उसने उन्हें क्षमा कर दिया और चेतावनी दी कि यदि तुम्हारा यही रवैया रहा तो तुम्हें अधिक क्रूर अरकली खाँ के सुपुर्द कर दिया जायगा।

अपनी इस अतिशय उदारता को ढकने के लिये बूढ़े सुल्तान ने एक गलत व्यक्ति को दण्ड देकर उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। जब दरवेश सिदी-मौला जो पाक पाटन के प्रसिद्ध शेख फरीदुद्दीन गंजे शकर का शिष्य था, सुल्तान फीरोज़ की हत्या के एक षडयन्त्र में पकड़ा गया तो जलालुद्दीन—जैसा कि कुछ शताब्दियों पूर्व इंग्लैण्ड के राजा हैनरी द्वितीय ने किया था—क्रोध के आवेश में चिल्ला उठा, "हे दरवेशो! क्या तुममें से कोई इस मौला से मेरा पिण्ड नहीं छुड़ायेगा ?" शीघ्र ही टॉमस बैकिट की भाँति सिदीमौला को काट डाला गया। इस दुर्घटना के बाद एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसे सहज विश्वासी लोगों ने सुल्तान के इस पाप का परिणाम बतलाया।

सैनिक प्रवृत्ति के अमीरों के लिये सुल्तान की सैनिक नीति भी अधिक सन्तोषजनक नहीं थी। अपने राज्यारोहण के वर्ष (१२९० ई०) उसने एक-दो रण-यात्रायें कीं, किन्तु अपनी विजय की अयोग्यता को उसने यह कह कर ढकने

का प्रयत्न किया कि मै मुसलमान सैनिकों के जीवन को काफिरों के किलों से कहीं अधिक मूल्यवान समझता हूँ। झाइन में 'उसने मूर्ति-मन्दिरों को ध्वस्त किया तथा मूर्तियों को तोड़ा और जलाया।' किन्तु राजपूतों के दृढ़ प्रतिरोध के कारण रणथम्भौर के अधिक विख्यात किले से उसे पीछे लौटना पड़ा। दो वर्ष उपरान्त (१२९२ ई०) उसने हलाकू के नाती अब्दुल्ला के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण करने वाले मंगोलों से टक्कर ली। उन्हें पराजित करके उसने दिल्ली के निकट बस जाने की आज्ञा दे दी, उनके रहने के लिये उसने मकान बनवा दिये और अपनी पुत्री का विवाह उनके नेता चिनगिज खाँ के एक प्रसिद्ध नाती के साथ कर दिया।

फीरोज़ का पतन

संक्षेप में, सुल्तान जलालुद्दीन फीरोज़ का अपने छः वर्ष के शासनकाल में इस प्रकार का आचरण रहा। १२९६ ई० में वह अपने महत्वाकांक्षी भतीजे तथा दामाद अलाउद्दीन का जिसे उसने मलिक छज्जू के विद्रोह के बाद कड़ा का जागीरदार नियुक्त किया था, शिकार बन गया। १२९२ ई० में अलाउद्दीन ने मालवा पर आक्रमण किया और भिलसा से बहुत-सा धन लूट कर लाया जिसे उसने सुल्तान को धोखे में डालने के उद्देश्य से दिल्ली ले जाकर उसके चरणों पर रख दिया। इसके पुरस्कारस्वरूप अवध का प्रदेश भी उसकी कड़ा की जागीर में सम्मिलित कर दिया गया। इससे प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने एक और आक्रमण किया जो उतना ही साहस तथा वीरतापूर्ण था जितना कि इतिहास का अन्य कोई आक्रमण। १२९४ ई० में केवल ८,००० घुड़सवार लेकर उसने देवगिरि पर चढ़ाई की। वहाँ उसने यादव राजा रामचन्द्र को उसी प्रकार घेर लिया जैसे १२०२ ई० में इख्तियारुद्दीन खलजी ने लखनौती में लक्ष्मण सेन को घेरा था। यादव युवराज शंकरदेव ने वीरता से आक्रमणकारी का प्रतिरोध किया, किन्तु देवगिरि (दौलताबाद) पर अलाउद्दीन का आक्रमण सफल रहा और राजा को बाध्य होकर एलिचपुर का किला उसके सुपुर्द करना पड़ा। यादवों से विजेता ने इतना धन लूटा कि उसके ऊँट तथा खच्चर बोझ के मारे कराहते हुए कड़ा को लौटे। केवल युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में १७,२५० पौण्ड सोना, २०० पौण्ड मोती, ५८ पौण्ड अन्य रत्न, २८,२५० पौण्ड चाँदी तथा १,००० रेशम के थान राजा से वसूल किये गये।

जब फीरोज़ ने अपने भतीजे के इस अविश्वसनीय कार्य का समाचार सुना तो उसे बधाई देने के लिये शीघ्र ही कड़ा की ओर चल पड़ा। उसके विवेकशील गृह-प्रबन्धक अहमद चाप ने ऐसा करने के विरुद्ध राय दी, किन्तु सुल्तान ने उसकी एक न सुनी। वहाँ १२९६ ई० में अलाउद्दीन ने ऐसी हत्या की जिसकी गणना संसार की सबसे अधिक नीचतापूर्ण हत्याओं में है, और अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। जब अलाउद्दीन सुल्तान को अभिवादन करने का बहाना

करते हुये नीचे को झुका, तो दयालु तथा निःशंक सुल्तान अपने भतीजे को उठाने के लिये झुका, उसी समय किराये के टट्टुओं ने उसका बध कर दिया।

आतंक तथा दानशीलता का राज्य

विश्वासघात, आतंक तथा दानशीलता, ये तीन शब्द अलाउद्दीन खलजी के बीस वर्ष (१२९६–१३१६ ई०) के शासन काल की विशेषताओं का सारांश व्यक्त करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। विश्वासघात में उसका आरम्भ हुआ, दानशीलता में वह फला फूला और आतंक में उसका अन्त हुआ।

अपने पिता की हत्या के समय अर्कलीखाँ मुल्तान में था, इसलिए उसके छोटे भाई इब्राहीम को रुक्नुद्दीन के नाम से दिल्ली में सुल्तान घोषित किया गया। किन्तु अलाउद्दीन शीघ्र ही ६०,००० घुड़सवारों और ६०,००० पैदलों की विशाल सेना लेकर राजधानी पर चढ़ गया और इब्राहीम के समर्थकों को मार भगाया। वे जाकर मुल्तान में इकट्ठे हुए, किन्तु अलाउद्दीन के पदाधिकारियों ने वहाँ भी तेजी से उनका पीछा किया और पकड़ कर उनमें से कुछ को अन्धा कर दिया, कुछ को कारागार में डाल दिया और शेष को तलवार के घाट उतार दिया। अलाउद्दीन ने "जिस विश्वासघात और कृतघ्नता के द्वारा सिंहासन प्राप्त किया, उसका दूसरा उदाहरण पूर्वीय देशों के इतिहास में भी मिलना दुर्लभ है, इसीलिए उसने दक्षिण की लूट में उपलब्ध सोने को अपव्ययतापूर्ण ढंग से बखेरकर जनता को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया।" अपनी राजधानी में प्रवेश करते समय उसने लालची जनता में सचमुच सोने तथा चाँदी के सिक्कों की वर्षा की। बरनी लिखता है, 'अब सिंहासन पर अलाउद्दीन का सुदृढ़ अधिकार हो गया था और नगर के दण्डपालक तथा प्रमुख लोग उससे मिलने आये और इस प्रकार एक नई व्यवस्था स्थापित हो गई। उसकी सम्पत्ति अतुल तथा शक्ति महान् थी। इसलिए व्यक्तियों ने उसके प्रति राजभक्ति दिखलाई या नहीं, इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था, उसके नाम से खुतबा पढ़ा गया और नये सिक्के चलाये गये।'

किन्तु दार्शनिक प्रवृत्ति का इतिहासकार (बरनी) यह लिखने से भी नहीं चूकता कि 'यद्यपि अलाउद्दीन ने कुछ समय तक शान्तिपूर्वक शासन किया और प्रत्येक कार्य उसकी इच्छानुसार होता गया और यद्यपि उसके पास स्त्रियाँ, बच्चे, परिवार तथा अनुयायी, धन तथा वैभव था, फिर भी उसने अपने संरक्षक का जो रक्त बहाया था, उसके दण्ड से वह न बच सका। उसने जितना निरपराध लोगों का रक्त बहाया उतना किसी फरोआ ने भी नहीं बहाया था। अन्त में नियति ने उसके मार्ग में एक विश्वासघाती ला खड़ा किया जिसने उसके परिवार का सर्वनाश कर दिया और इस प्रकार उसे जो दण्ड मिला उसका दूसरा उदाहरण किसी काफ़िरों के देश में भी नहीं मिल सकता।'

मंगोलों के पुनः आक्रमण

यद्यपि सोने की वखेर ने अपहरणकर्ता के अपराध पर पर्दा डाल दिया, किन्तु मंगोलों के निरन्तर आक्रमणों की बाढ़ अभी तक नहीं रुकी थी। अलाउद्दीन के राज्यारोहण के दूसरे वर्ष 'शैतान के वे उत्साही पुत्र' १००,००० की संख्या में अपने नेता ट्रांस ऑक्सियाना के शासक अमीर दाऊद की अध्यक्षता में भारत पर चढ़ आये। किन्तु सुल्तान का दामाद उलुगखाँ जिसे पश्चिमी प्रान्तों का भार सौंपा गया था, परिस्थिति का मुकाबिला करने में सफल हुआ। उसने मंगोलों को भारी क्षति पहुँचाई और उन्हें देश के बाहर खदेड़ दिया। किन्तु फिर भी उन्होंने अपना संकल्प नहीं छोड़ा। साल्दी के नेतृत्व में उन्होंने दूसरा आक्रमण किया, किन्तु इस बार भी वे पराजित हुए, साल्दी को उसके २,००० अनुयायियों सहित बन्दी बना लिया गया और जंजीरों में बाँध कर दिल्ली भेज दिया गया। इस बार हिन्दुस्तान के सिंहासन पर बूढ़े तथा अशक्त जलालुद्दीन के स्थान पर कठोर तथा दृढ़ संकल्प अलाउद्दीन विराजमान था। किन्तु मंगोलों को इस अन्तर को समझने में कुछ और समय लगा। १२९९ ई० में वे टिड्डी दल की भाँति अपार संख्या में आये और ऐसा लगा कि दिल्ली के फाटकों तक समस्त पंजाब उनकी बाढ़ में डूब जायगा। अलाउद्दीन के सामने एक भयंकर संकट उपस्थित हो गया, इसलिए उसने स्वयं १२,००० परखे हुए सैनिकों तथा उलुगखाँ और ज़फर खाँ नामक दो अनुभवी पदाधिकारियों को साथ लेकर मैदान में शत्रु से लोहा लिया। इन दोनों सेनानायकों ने मंगोलों के इससे पहले आक्रमणों का वार झेला था और ज़फर खाँ तो विशेषकर अपने युग के रुस्तम के नाम से विख्यात था। इस अवसर पर वे बर्बर अत्यधिक भारी संख्या में मारे गये और पीछे धकेल दिये गये, और यद्यपि ज़फर खाँ खेत रहा, किन्तु मंगोल लोग कई पीढ़ियों तक भय और आतंक के साथ उसके शौर्य का स्मरण करते रहे। तत्कालीन ग्रन्थों में उल्लेख आता है कि जब कभी मंगोलों के घोड़े नदी में पानी न पीते तो वे उनसे कहते कि क्या तुमने ज़फ़र खाँ देखा है ?

फिर भी अपने असाध्य घुमक्कड़पन के कारण वे बार-बार सिन्ध तक आये। १३०४ ई० में तो उन्होंने शिवालिक को पार करके अमरोहा तक पर आक्रमण करने का साहस किया। अपनी सफलता से प्रोत्साहित होकर १३०७ ई० में उन्होंने पंजाब पर भयंकर धावा किया। किन्तु गाज़ी तुगलक ने उन्हें भारी क्षति पहुँचाई और पीछे खदेड़ दिया, उनके नेताओं को पकड़ कर उसने हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवा दिया। इसके बाद अलाउद्दीन ने बलबन की नीति का अनुसरण किया और स्थायी सुरक्षा की दृष्टि से सुदृढ़ सैनिक चौकियाँ स्थापित कीं और मंगोलों के मार्ग पर स्थित दिपालपुर, समन आदि स्थानों की किलेबन्दी करवाई। बहुत से आक्रमणकारी समय-समय पर राजधानी के निकट बस गये थे और जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, 'नये मुसलमान' कहलाते थे। उनका आचरण विद्रोह-

पूर्ण सिद्ध हुआ, इसलिए एक दिन में उनके २०,०००–३०,००० व्यक्तियों का संहार कर दिया गया। बरनी लिखता है कि नये सुलतान की 'धूर्ततापूर्ण क्रूरता' के कारण उनके बच्चे तथा स्त्रियाँ भी न बच सके। 'इस समय तक पुरुषों के कुकर्मों के कारण उनकी स्त्रियों तथा बच्चों पर कभी हाथ नहीं उठाया गया था।'

दूसरा सिकन्दर

अलाउद्दीन जितना धूर्त और क्रूर था उतना ही महत्वाकांक्षी भी था। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये वह कुछ भी करने में नहीं झिझकता था और उसकी महत्वाकांक्षाएँ असीम थीं। यदि कभी कोई ऐसा राजा हुआ है जिसने अपने अंत:करण की पुकार को पूर्णतया कुचल दिया हो, तो वह अलाउद्दीन खलजी था। वह दूसरा सिकन्दर बनना चाहता था, किन्तु उसमें उस महान् विजेता के चरित्र की उच्चता नहीं थी। अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिये उसने जलालुद्दीन का जो उसका संरक्षक, चाचा तथा ससुर था, बध किया, इसीलिये उसने देवगिरि को लूटा, और इसीलिये मंगोलों का नाश किया। और इसीलिये उसने जलालुद्दीन के उत्तराधिकारियों का ही नहीं बल्कि उन जलाली अमीरों का भी मूलोच्छेदन किया, जो सोने के लोभ से उसके भक्त बन गये थे। उसका विचार था कि जो एक बार विश्वासघात कर चुके हैं, वे फिर ऐसा कर सकते हैं। इसके बाद वह जी-जान से विजय के कार्य में जुट गया। हम अभी बतायँगे कि किस प्रकार अन्हिलवाड़, चित्तौड़, उज्जैन, वारंगल, द्वारसमुद्र और मदुरा को विजय किया गया। इन विजित स्थानों के शासकों के साथ जो व्यवहार किया गया वह पोरस के प्रति किये गये सिकन्दर के व्यवहार से सर्वथा भिन्न था।

गुजरात—उलुगखाँ तथा नसरतखाँ को गुजरात भेजा गया। यद्यपि अन्हिलवाड़ को ऐबक ने दो बार लूटा था, किन्तु गुजरात को कभी विजय नहीं किया जा सका था। दो सौ सत्तर वर्ष बाद सोमनाथ को पुनः लूटा गया (१२९७ ई०)। १०२५ के विध्वंस के उपरान्त जो मूर्ति फिर प्रतिष्ठित कर दी गई थी उसे उखाड़ कर विजयोपहार के रूप में दिल्ली भेज दिया गया। उसके अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ भी थीं जिनका महत्व अलाउद्दीन ने अधिक भली-भाँति समझा। राजा कर्ण की रानी कमलदेवी जो अपनी सुन्दर पुत्री देवलदेवी को लेकर देवगिरि को भाग गई थी, विजेताओं के अपवित्र हाथों में पड़ गई। उसे भी अलाउद्दीन की अतृप्त काम-पिपासा को शान्त करने के लिये दिल्ली भेज दिया गया। किन्तु सबसे बड़ा जयलाभ 'हज़ार दीनारी' ग़ुलाम मलिक काफ़ूर था जो हिजड़ा था। स्वेच्छाचारी सुलतान ने उसे उसके सौन्दर्य के कारण पसन्द किया और अपना प्रिय बनाकर रक्खा। बाद में सुलतान को पता लगा कि काफ़ूर में महान् विजेता के गुण हैं। मलिक काफ़ूर ने अलाउद्दीन के लिये वही कार्य किया जो ऐबक और इख्तियारुद्दीन ने मुहम्मद गोरी के लिये किया था; उसने मुस्लिम विजयों का विस्तार दक्षिण भारत के अन्तिम छोर

इसके बाद मेवाड की बारी आई (१३०२-३ ई०)। चित्तौड की ओ अलाउद्दीन को आकृष्ट करने वाली दो चीज़ें थीं—विजय की लालसा तथा दूर दूर तक विख्यात पद्मिनी को प्राप्त करने की अभिलाषा। इस युद्ध का ब्यौरा तथ रानी की वीरतापूर्ण सामरिक चाल जिसके कारण अलाउद्दीन अपने अभीष्ट के सिद्ध न कर सका, राजस्थान के सुपरिचित महाकाव्य का अंग हैं। विश्वासघात के परिणामस्वरूप राणा बन्दी बना लिया गया और सुल्तान ने उसे इस शर्त पर मुक्त कर देने का वचन दिया कि वह अपनी सुन्दर रानी को उसके सुपुर्द कर दे राजपूतों के सम्मान को इससे बडी और चुनौती नहीं हो सकती थी। रानी अथव उसकी पुत्री की साधन-सम्पन्नता ने उनका इस संकट से उद्धार किया। स्त्रियों को शत्रु की शिविर तक पहुँचाने के लिये एक सशस्त्र राजपूतों के एक दल की माँग की गई। उन्होंने वह कार्य कर दिखाया जिसकी सुल्तान को तनिक भी शंका न थी और अपने राणा को छुड़ा कर राजधानी में वापस ले गये। तदुपरान्त भयका नरमेध हुआ जिसमें राजपूती शौर्य स्वाहा हो गया जिससे कि म्लेच्छ लोग शुद्ध क्षत्रिय रक्त की एक बूँद भी अपवित्र न कर सकें।

"एक विशाल भूमिगत कक्ष में जहाँ दिन का प्रकाश भी नहीं पहुँच सकता था, ए चिता जलाई गई, और चित्तौड के रक्षकों ने सहस्त्रों रानियों—अपनी स्त्रियों और पुत्रियो का जुलूस देखा ... उस गुफा में उन्हें पहुँचा कर द्वार बन्द कर दिया गया जिससे अग्नि की लपटों द्वारा उनके सम्मान की रक्षा हो सके।"

चित्तौड़ पर अधिकार करके अलाउद्दीन ने उसे अपने पुत्र खिज्रखाँ के सुपुर्द कर दिया, और क़िले का नाम बदल कर खिज्राबाद रख दिया गया (सोमवार, २६ अगस्त १३०३ ई०)। ३०,००० हिन्दू तलवार के घाट उतार दिये गये। किन्तु इन्द्रिय-विषयों में लिप्त रहने वाला राजकुमार खिज्र खाँ १३११ ई० के बाद चित्तौड़ पर अधिकार न रख सका, इसलिए बाध्य होकर अलाउद्दीन ने उसके स्थान पर सोनिग्र वंशी राजपूत सरदार मालदेव को नियुक्त किया। किन्तु, यह व्यवस्था भी विफल सिद्ध हुई और सात वर्ष उपरान्त राणा हम्मीर ने अपने पूर्वजों के गढ़ पर पुन अधिकार कर लिया।

मालवा—राजपूताना की विजय के बाद अलाउद्दीन ने मालवा को अधिकृत किया (१३०५ ई०)। शीघ्र ही माँडू, उज्जैन, धार, चन्देरी आदि को दिल्ली सुल्तान का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। टॉड का मत है कि अलाउद्दीन ने अन्हिलवाड़ से लेकर देवगिरि तक के सभी अग्निकुलीय राजपूतों—सोलंकी, परमार, परिहार आदि—की सत्ता को उखाड़ फेंका।

दक्षिण भारत में इस्लामी पताका

देवगिरि—१३०६-७ ई० में देवगिरि पर पुन आक्रमण किया गया। राजा रामचन्द्र ने पिछले तीन वर्ष से एलिचपुर का राजस्व नहीं चुकाया था, उसे वसूल करना ही आक्रमण का प्रत्यक्ष बहाना था। किन्तु वास्तविक उद्देश्य था शाही

रनिवास के लिए दूसरी हूर—अन्हिलवाड़ के राजा कर्ण की पुत्री देवल देवी—को प्राप्त करना। १२९७ ई० में जब उलुग खाँ ने गुजरात पर आक्रमण किया था, उस समय देवल देवी ने भाग कर यादवों के गढ़ में शरण ली थी। गुजरात के सूबेदार अलप खाँ और राज्य के नाइब मलिक काफूर को इस आक्रमण—जिसका उद्देश्य हूर का शिकार करना था—का भार सौंपा गया। संक्षेप में, अलप खाँ देवल देवी को प्राप्त करने में सफल हुआ, उसे दिल्ली भेज दिया गया जहाँ निकम्मे खिज्र खाँ के साथ उसका विवाह हो गया। मलिक नाइब ने देवगिरि पर चढ़ाई की, राजा रामचन्द्र देव को पकड़ कर सुलतान के पास भेज दिया और एलिचपुर के लिये एक मुसलमान सूबेदार नियुक्त कर दिया जिससे भविष्य में फिर उपद्रव न खड़े हो सकें। बन्दी राजा के पूर्व व्यवहार के बावजूद सुलतान ने उसके प्रति उदारता दिखलाई और राइ-राइन की उपाधि प्रदान करके उसे अपनी राजधानी को लौट जाने दिया।

तैलिंगाना—१३०९ ई० में विजयी मलिक काफूर को तैलिंगाना की विजय के लिए भेजा गया। इससे पहले भी एक बार उस राज्य पर आक्रमण करने की योजना बनाई गई थी और अलाउद्दीन के भाई उलुग खाँ को उसका भार सौंपा गया था किन्तु उसकी सहसा मृत्यु हो जाने से वह प्रयत्न निष्फल रहा। इस रण-यात्रा का मुख्य उद्देश्य लूट करना अथवा कर उगाहना था, राज्य का विस्तार करना नहीं। गुजरात, राजपूताना, मालवा, एलिचपुर आदि अन्य सभी विजित प्रान्तों में मुसलमान सूबेदार नियुक्त कर दिये गये थे। किन्तु इस बार अलाउद्दीन ने विशेष आज्ञा जारी की। 'यदि राइ अपना कोष तथा रत्न, हाथी और घोड़े अर्पित करने तथा आगामी वर्ष भी धन तथा हाथी भेजने को तैयार हो, तो मलिक काफूर को चाहिये कि ये शर्तें स्वीकार कर ले और राइ पर अधिक दबाव न डाले। यदि ऐसा करने में उसे सफलता न मिले तो अपने नाम तथा यश की रक्षा के लिए राइ को पकड़ कर दिल्ली ले आये।' मार्ग में मलिक काफूर को देवगिरि के करद हिन्दू राजा ने सहायता दी, देवगिरि से वारंगल की यात्रा में 'हजार दीनारी' ने मार्ग के प्रदेश को तलवार तथा अग्नि द्वारा उजाड़ दिया और उसके निवासियों को खदेड़ कर ले गया। वारंगल का राजा प्रतापरुद्रदेव द्वितीय काकतीय (मुसलमान इतिहासकारों ने उसे लदरदेव लिखा है) आक्रमण की इस क्रोधाग्नि को न सह सका और उसने ३०० हाथी, ७००० घोड़े, बहुत से सिक्के तथा रत्न भेंट किये और वार्षिक कर देने का वचन दिया। लूट की इस अतुल धन-राशि के बोझ को लेकर मुसलमान दिल्ली को लौट गये।

द्वार-समुद्र—प्रत्येक आक्रमण में जो अपार धन राशि मिली उसी के अनुपात में महमूद गज़नवी की भाँति, इस विजेता की धन-लिप्सा भी बढ़ती गई। तैलिंगाना की सरल सफलता से मलिक काफूर दक्षिण में और आगे बढ़ने के लिए लालायित हो उठा। उसका अन्तिम आक्रमण होयसलों की राजधानी

विपत्ति से बच गया क्योंकि उसने समय पर खुसरू के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। खुसरू मुबारक का दुष्ट सलाहकार था और 'हजार दीनारी' मलिक काफूर की भाँति वह भी गुजरात का निम्नकुलोत्पन्न हिन्दू था और बाद में मुसलमान हो गया था। काकतीय राजा ने अपने राज्य के पाँच जिले दिल्ली सुल्तान को समर्पण के प्रतीकस्वरूप दे दिये और 'सौ से अधिक दैत्याकार हाथी, १२००० घोडे, सोना तथा असंख्य रत्न' वार्षिक कर के रूप में देने का वचन दिया।

क्रान्तिकारी शासन

सब पहलुओं से विचार करते हुए हमें मानना पड़ता है कि अलाउद्दीन खलजी का बीस वर्ष का शासन काल (१२९६–१३१६ ई०) क्रान्तिकारी था। क्रान्ति द्वारा ही उसने १२९६ ई० में राजशक्ति पर अधिकार करके उसे आरम्भ किया और उसी प्रकार १३१६ ई० में मलिक काफूर ने उसका अन्त कर दिया। वास्तव में जलालुद्दीन फीरोज (१२९० ई०) से लेकर अपहरणकर्ता खुसरू शाह के समय तक (१३२० ई०) समस्त खलजी युग की यही विशेषता रही। डा० आर० पी० त्रिपाठी लिखते हैं, "खलजी क्रान्ति का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उससे राजभक्ति की उस भावना को जो दिल्ली सिंहासन के प्रति विकसित हो रही थी और जिससे भविष्य में अच्छे परिणामों की ही आशा थी, भारी धक्का लगा। यदि खलजियों ने राजभक्ति तथा राजप्रतिष्ठा की परम्पराओं को उत्पन्न होते ही न कुचल दिया होता और उन्हें बढ़कर अपनी पूर्णता तक पहुँचने दिया होता, तो सैनिकवादी तत्व बहुत न्यून हो जाता और अधिकारों तथा कर्तव्यों और आज्ञा देने तथा पालन करने की नई परम्पराएँ स्थापित हो जातीं, जैसा कि संसार के अन्य देशों में हुआ था। दुर्भाग्यवश खिलजी क्रान्ति ने सरकार के असैनिक पहलू का महत्व घटाकर और सैनिक पक्ष को शक्तिशाली बनाकर एक ऐसा घातक उदाहरण उपस्थित किया जो दिल्ली सल्तनत की जीवन शक्ति को क्षीण करता रहा।" (Some Aspects of Muslim Administration, पृष्ठ ४१)।

अलाउद्दीन खलजी ने जिस क्रान्तिकारी शासन-व्यवस्था की स्थापना की उसे समझने के लिये उसके राज्यकाल की कुछ घटनाओं की समीक्षा करना आवश्यक है। जैसा कि मोरलैंड ने लिखा है, "उसके राज्यकाल के प्रारम्भिक महीनों में विद्रोहों का एक ताँता लग गया जिससे उसे सुदृढ़ तथा शक्तिपूर्ण शासन-व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव हुई और इसलिये आगे चलकर आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा का प्रश्न उसकी नीति का प्रमुख तत्व बन गया।"

अराजकता के लक्षण

जलालुद्दीन के सिंहासन के वैध दावेदारों को मार्ग से हटाकर भी अलाउद्दीन की स्थिति सुरक्षित नहीं हुई। वे जलाली अमीर जिनका समर्थन उसने स्वर्णराशि लुटा कर प्राप्त कर लिया था, वास्तव में आस्तीन के साँप थे जिन्हें

उसने दूध पिलाया था, इस जीवन में वे विश्वास के योग्य नहीं हो सकते थे। इसलिये उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति उगलवा ली गई, उनकी भूमि ज़ब्त कर ली गई और उनके बच्चे आवारा बना दिये गये। उनमें से जो अधिक खतरनाक थे, उन्हें अन्धा करके कारागार में डलवा दिया गया अथवा मार डाला गया। इस प्रकार राजकोष में जो धन जमा हुआ उसका मूल्य एक करोड़ से कम न था, किन्तु सुलतान की इस नीति से उसके शत्रुओं को केवल कुछ क्षति पहुँची थी, इससे अधिक कुछ न हुआ था। इन अत्याचारों के बाद भी जो बच रहे वे शान्ति से बैठने वाले न थे। जैसे ही अत्याचारी ने अपनी प्रथम सैनिक कार्यवाही के लिये दिल्ली से प्रस्थान किया, वैसे ही उनकी अवरुद्ध क्रोधाग्नि विद्रोह की लपटों के रूप में फूट पड़ी। हम उल्लेख कर आये हैं कि १२९९–१३०१ ई० में जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के घेरे में व्यस्त था, उसी समय अनेक विद्रोह उठ खड़े हुए थे। कदाचित् उनमें से सबसे अधिक संकटपूर्ण दिल्ली में हाजी मौला का विद्रोह था। विद्रोहियों ने नगर के फाटकों पर अधिकार करके राजकोष लूट लिया और एक साधारण स्थिति के युवक को जो इल्तुतमिश का पुत्र समझा जाता था, सिंहासन पर बिठला कर शहंशाह घोषित कर दिया। कुछ ही दिनों बाद जब प्रतिशोध लेने का अवसर आया, तो उपद्रवकारी मौत के घाट उतार दिये गये। दिल्ली के महान् कोतवाल के पुत्रों को भी षडयंत्र में सम्मिलित होने के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया गया।

उसी अल्पकाल में तीन विद्रोह और हुए। अलाउद्दीन के भानजे अमीर उमर तथा मंगू खाँ ने क्रमश बदायूँ और अवध में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। किन्तु वे शीघ्र ही पकड़ लिये गये और अलाउद्दीन के सामने उपस्थित किये गये, उनके मामा ने अपने सामने ही उनकी आँखे निकलवा लीं। तीसरा विद्रोह सुलतान के शिविर में ही उसके एक अन्य भतीजे ने किया। रणथम्भौर में एक बार सुलतान आखेट को जाते समय अपनी मुख्य सेना से कुछ दूर आगे निकल गया। इस प्रकार उसे अकेला देखकर उसके भतीजे आकत खाँ को अपने चाचा का अनुकरण करने का सहसा लोभ हो आया और सिंहासन प्राप्ति के लिये उसने प्रयत्न किया। अलाउद्दीन पर आक्रमण कर दिया गया और उसके वध करने में थोड़ी-सी ही कसर रह गई थी। आकत खाँ ने "सुलतान को मरा हुआ समझकर छोड़ दिया और स्वयं जाकर गद्दी पर बैठ गया। अमीरों ने भी उसका अभिवादन किया और वह अपने चाचा के रनिवास में भी प्रवेश करने को था कि मलिक काफ़ूर ने उसे द्वार पर रोक दिया और कहा कि जब तक आप अलाउद्दीन का सिर नहीं दिखा देते, मैं आपको भीतर नहीं घुसने दूँगा। सुलतान ने शीघ्र ही अपने को सेना के सामने एक निकटवर्ती पहाड़ी पर प्रकट किया और इस प्रकार उसका सिर तो उपस्थित हुआ किन्तु सदैव की भाँति धड़ पर रक्खा हुआ। चाचा के स्थान पर स्वयं विद्रोही भतीजे आकतखाँ का सिर धड़ से उड़ा दिया गया;

षड्यन्त्रकारी तार के कोड़ों से पीट-पीट कर मारे डाले गये और उनके बच्चों तथा स्त्रियों को बन्दी बना लिया गया।"

विद्रोहों को शान्त करने के उपाय

एक के बाद एक होने वाले इन विद्रोहों से अलाउद्दीन इस परिणाम पर पहुँचा कि स्थिति को सुधारने के लिये सख्त कदम उठाना आवश्यक है। अपने विश्लेषणशील मस्तिष्क से उसने इस असाध्य रोग के चार कारण ढूँढ निकाले (१) गुप्तचर व्यवस्था—जो सुल्तान को साम्राज्य में होने वाली प्रत्येक घटना के प्रति सजग तथा सावधान रक्खे—की उपेक्षा, (२) बिना किसी रोक टोक तथा प्रतिबन्ध के मदिरापान की आदत, (३) अमीरों तथा समाज के नेताओं का अधिक पारस्परिक मेल-जोल जिससे षड्यन्त्रकारी भावनाओं को प्रोत्साहन मिलता था, और (४) व्यक्तिगत सम्पत्ति की अपरिमित वृद्धि जिससे लोगों को सुल्तान के विरुद्ध कुचक्र रचने के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता था। अलाउद्दीन कठोर यथार्थवादी था और जब उसे किसी कार्य प्रणाली की उपादेयता में विश्वास हो जाता, तो वह जहाँ तक परिस्थितियाँ उसका साथ देतीं, निर्भीक रूप से उसका अनुसरण करता। उसने घोषणा की, "विद्रोहों को रोकने के लिए, जिनमें हजारों लोग नष्ट होते हैं, मैं ऐसी आज्ञाएँ जारी करता हूँ जिन्हें मैं राज्य की अभिवृद्धि तथा जनता के हित के लिये आवश्यक समझता हूँ। लोगों का व्यवहार अविचार तथा असम्मानपूर्ण है और वे मेरी आज्ञाओं का उल्लघन करते हैं, इसलिए उनसे आज्ञापालन करवाने के लिए मुझे कठोर बर्ताव करने पर बाध्य होना पड़ता है।...' मैं यह नहीं जानता कि यह नियमानुमोदित है अथवा नियम विरुद्ध, मैं जो कुछ राज्य के लिए हितकर और अवसर विशेष के लिए उपयुक्त समझता हूँ उसी को करने का आदेश देता हूँ, और क़यामत (अन्तिम न्याय) के दिन मेरा क्या होगा इसे मैं नहीं जानता।"

राज्य का धर्मनिरपेक्षीकरण

राज्य की नीति के सम्बन्ध में अलाउद्दीन के उपर्युक्त सिद्धान्तों में तथा काज़ी मुग़ीसुद्दीन के साथ उसके सम्भाषणों में, जिनको बरनी ने लेखबद्ध किया है, जिस धर्मनिरपेक्षता का प्रतिबिम्ब मिलता है उसका तेरहवीं शताब्दी के मुस्लिम शासक में पाया जाना एक आश्चर्य की बात थी। यद्यपि अलाउद्दीन यथार्थवादी नीति का भक्त था, फिर भी उसने इस्लामी समाज के धर्मसापेक्ष बन्धनों को पूर्णरूप से नहीं तोड डाला था। यद्यपि अलाउद्दीन शक्तिशाली शासक था और एशिया के किसी भी शासक से उसकी तुलना की जा सकती थी, फिर भी जैसा कि डा० त्रिपाठी लिखते हैं, उसने " 'सिकन्दर' से ऊँचा कोई विरुद नहीं धारण किया और अपने लिए 'यमीन-उल खिलाफत नासिरी अमीर उल मुमिनीन' उपाधि का प्रयोग करता रहा।" इतनी शक्ति तथा प्रतिष्ठा का उपयोग करने

वाले सुलतान ने अपने को अपमानित तथा निर्बल खिलाफत का अधीनस्थ माना, यह एक अत्यधिक "महत्त्वपूर्ण तथ्य है।" उसी लेखक ने आगे लिखा है कि जिस कार्य को अलाउद्दीन भी करने में असफल रहा था उसे उसके पुत्र मुबारक ने कर दिखाया था। "वह पहला शासक था जिसने खिलाफत के ढोंग को उठा कर ताक में रख दिया और दिल्ली सल्तनत को खिलाफत से स्वतन्त्र तथा प्रभुत्वसम्पन्न घोषित कर दिया, अपने साम्राज्य के बाहर उसने किसी शक्ति के कानूनी प्रभुत्व को स्वीकार करने से इनकार किया। वह इससे भी एक कदम और आगे बढ़ गया और अपने को महान्-इमाम अथवा ईश्वर का प्रतिनिधि (अल इमाम उल आज़म खलीफाई रब्बुल आलिमोन अथवा खलीफात उल्लाह अथवा अमीर-उल-मुमिनीन) घोषित किया।" यदि इससे राज्यीय विषयों का पूर्ण धर्मनिरपेक्षीकरण सिद्ध नहीं होता, तो शासन को उलेमा के प्रभुत्व से मुक्त करने की प्रवृत्ति अवश्य प्रकट होती है। कदाचित, जैसा कि हम आगे देखेंगे, इससे यह स्पष्ट हो गया कि इस देश में सुलतान का आधिपत्य दृढ़ता से स्थापित हो चुका था और दिल्ली में स्वेच्छाचारिता पूर्णत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही थी। यह तो आधुनिक अधिनायकों ने भी दिखला दिया है कि पूर्णतया धर्मनिरपेक्षीकृत स्वेच्छाचारी सरकारें भी धार्मिक अत्याचारों के रोग से मुक्त नहीं होती। नये शासन का मूलमन्त्र था, "मैं जो कुछ राज्य के लिये हितकर और अवसर विशेष के लिए उपयुक्त समझता हूँ उसी को करने का आदेश देता हूँ।"

स्वेच्छाचारी शासन का सुदृढ़ होना

अलाउद्दीन के विषय में महत्वपूर्ण बात यह थी कि वह सुव्यवस्थित ढंग से योजनायें बनाता और निर्मम रूप से उन्हें कार्यान्वित करता, यदि परिस्थितियों के कारण उसका अनुभव उसके विपरीत होता तो वह समझौता कर लेता और अपने को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेता।

(१) साम्राज्य की गुप्तचर-व्यवस्था का सुयोग्य ढंग से संगठन किया गया, और उसने उतना ही अच्छा काम किया जितना कि मौर्यों के समय में। इतने दूर-दूर तक बिखरे हुये साम्राज्य में जिसके यातायात के साधन आदिम अवस्था में थे, सरकारी सम्वाददाताओं के बिना कार्य नहीं चल सकता था। यदि कोई सम्वाददाता अपने कार्य में ढील दिखाता अथवा अन्य किसी प्रकार से अपने कर्तव्यों की अवहेलना करता तो उसे तुरन्त ही फाँसी दे दी जाती थी, जिससे वह दूसरों के लिये उदाहरण बन सके।

(२) मद्य-निषेध का नियम कठोर किन्तु सुरक्षा की दृष्टि से हितकर था और समाज तथा राजनीति पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। सुलतान ने केवल दूसरों को ही मद्य-पान से बचने की आज्ञा नहीं दी, जैसा कि आगे के युग में जहाँगीर ने किया बल्कि उसने स्वयं उदाहरण उपस्थित किया, 'मदिरा की

सुराहियाँ और पीपे शाही भण्डारों से लाकर बदायूँ द्वार के सामने इतनी वृहद मात्रा में लुढ़का दिये गये कि वहाँ वर्षा ऋतु जैसी कीचड़ उत्पन्न हो गई।' किन्तु तब लोग चोरी से मदिरा लाने लगे जिससे अलाउद्दीन को विश्वास हो गया कि कानून की कठोरता में कुछ ढील देना आवश्यक है। इसलिये उसने केवल सार्वजनिक उत्सवों तथा दावतों में पीने तथा बेचने के लिये मदिरा बनाने का निषेध किया। अमीर परिवारों के पारस्परिक सामाजिक मेल-जोल तथा विवाह-सम्बन्ध पर भी कठोर नियंत्रण लगा दिया गया।

(३) अलाउद्दीन के सजग तथा स्वेच्छाचरितापूर्ण शासन के अन्तर्गत, विशेषकर, हिन्दुओं की दशा पूर्व सुलतानों के समय से भी अधिक असह्य हो गई। उसकी समानता केवल छुछ तथा अरब शासकों के समय में सिन्ध के जाटों की दशा से की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि बयाना के काज़ी का बहु-उद्धृत कथन हिन्दुओं के प्रति अविचल धार्मिक कट्टरता की नीति का द्योतक था किन्तु यह विश्वास करने के लिये भी कारण हैं कि अलाउद्दीन ने इस सम्बन्ध में धर्माधीशों के निर्णय का उससे अधिक सम्मान नहीं किया जितना कि उसने युद्ध में प्राप्त लूट के धन को स्वयं हड़पने के सम्बन्ध में दिल्ली के काज़ी की सलाह का किया था।

बयाना के काजी ने कहा, 'वे खिराज-गुजर कहलाते हैं और जब राजस्व पदाधिकारी उनसे चाँदी माँगे तो उन्हें चाहिए कि बिना पूछे तथा पूर्ण विनम्रता और सम्मान के साथ सोना दे दें। यदि मुहस्सिल किसी हिन्दू के मुँह में थूकना चाहे तो उस हिन्दू को बिना हिचकिचाहट के अपना मुँह खोल देना चाहिए।' किन्तु काजी का भी तात्पर्य यह नहीं था कि इस सिद्धान्त का अक्षरश पालन किया जाय क्योंकि उसने कहा, "इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार का आचरण करके हिन्दू विनम्रता, समर्पण, आज्ञा-पालन तथा सम्मान की भावना का प्रदर्शन करता है। इस्लाम के यश की वृद्धि करना कर्तव्य है और धर्म के प्रति घृणा प्रकट करना मूर्खतापूर्ण है। स्वयं ईश्वर ने हिन्दुओं के दमन की आज्ञा दी है क्योंकि वे पैगम्बर के सबसे घातक शत्रु हैं। पैगम्बर का कथन है कि या तो वे इस्लाम अङ्गीकार करें, नहीं तो उनका वध कर दिया जाय अथवा दास बना लिया जाय, और उनकी सम्पत्ति राज्य को जब्त कर लेनी चाहिए। महान् अबू हनीफा को छोड़कर और कोई हिन्दुओं पर जिजया लगाने की आज्ञा नहीं देता। अन्य विद्वानों के अनुसार तो उनके लिये इस्लाम अथवा मृत्यु के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है।"

अलाउद्दीन के समय में हिन्दुओं के लिये एक ही मार्ग खुला हुआ था—साम्राज्य के कहारों और लकड़हारों–दासों–के रूप में कार्य करना। उनके पास केवल जीवन-निर्वाह करने मात्र के लिये बच पाता था, वे न घोड़े पर चढ़ सकते, न अच्छे वस्त्र पहिन सकते, न अस्त्र-शस्त्र धारण कर सकते और न पान ही चबा सकते थे। दरिद्रता के कारण उनकी स्त्रियों को मुसलमान घरों में टहलनियों का काम करना पड़ता था। अलाउद्दीन शेखी बघारा करता था, "मेरी आज्ञा से वे चूहों की भाँति बिलों में घुसने के लिये तैयार हैं।"

सामान्य लोगों की सम्पत्ति का अपहरण

व्यक्तिगत समृद्धि को रोकने के लिये सुल्तान ने लोगों की सम्पत्ति को अपहरण करने की नीति अपनाई और उनके पास राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से जितना उचित था उससे अधिक नहीं छोड़ा, किन्तु यह नीति सामान्य थी, केवल हिन्दुओं तक ही नहीं सीमित थी। निस्सन्देह यह कहा जाता है कि सुल्तान ने घोषणा की, 'हिन्दू लोग तब तक विनम्र तथा आज्ञाकारी नहीं होंगे जब तक उन्हें पूर्णतया दरिद्र नहीं बना दिया जाता; किन्तु उसकी सम्पूर्ण राजस्व-नीति इस सिद्धान्त पर अवलम्बित थी कि उसकी अधिकांश प्रजा को—हिन्दू हो अथवा मुसलमान—'धन इकट्ठा नहीं करने दिया जायगा।' बलबन ने पंजाब में सामान्य रूप से जागीरों को हड़पने का प्रयत्न किया था किन्तु सबको मुआवज़ा देने की योजना के बावजूद उसे इस नीति में सफलता नहीं मिली थी। किन्तु अलाउद्दीन ने समस्त साम्राज्य में जोड़े हुए धन को जब्त करने की नीति बरती, फिर भी उसे सफलता मिली। कदाचित जलाली अमीरों के साथ किये गये अपने प्रयोग से उसे इस दिशा में अधिक प्रोत्साहन मिला था। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति अपहरण की इस नीति के सम्बन्ध में कोई ऐसा भेदभाव नहीं किया गया था जिससे लोगों में एक दूसरे के प्रति ईर्षा अथवा विद्वेष फैलता, इसलिये इस सम्बन्ध में किसी को विशेष शिकायत नहीं हो सकती थी।

बरनी लिखता है, 'सुल्तान ने आज्ञा जारी कि जहाँ कहीं किसी गाँव में लोगों के पास मिल्क (स्वामित्व अधिकार) इनाम वक्फ (धर्मस्व) आदि के रूप में भूमि हो उसे एक कलम से राज्य के अधिकार में कर लिया जाय। लोगों पर दबाव डाला गया, जुर्माना किया गया तथा हर बहाने से उनसे धन एँठा गया। अनेक लोग पूर्णतया धनहीन हो गये और अन्त में यहाँ तक हुआ कि अमीरों, मलिकों, अधिकारियों, मुल्तानियों (बड़े मुल्तानी व्यापारी) और साहूकारों को छोड़ कर और किसी के पास तनिक भी नकद धन न रह गया। जब्त करने की यह नीति इस कठोरता से बरती गई कि कुछ हजार टका को छोड़ कर सब पेंशने, माफी की भूमि और धर्मस्व हड़प लिए गये। लोग जीवन-निर्वाह के साधनों को जुटाने में ही इतने व्यस्त रहते थे कि किसी को विद्रोह का नाम लेने तक का अवकाश न था।'

वस्तुओं तथा उनके मूल्य का नियन्त्रण

प्रजा को बलपूर्वक दरिद्र बनाने के परिणामस्वरूप यह आवश्यक हो गया कि वस्तुओं का मूल्य नियन्त्रित किया जाय जिससे 'उसके पास प्रतिवर्ष निर्वाह के लिए ठीक पर्याप्त अन्न, दूध तथा दही बचा रहे।' सबसे पहले मंगोलों के आक्रमणों से उत्पन्न सङ्कट के समय में युद्धकालीन नीति के रूप में यह प्रयोग अपनाया गया। सीमाओं की रक्षा के लिए एक विशाल सेना की आवश्यकता थी और अत्यधिक धन व्यय किये बिना उसे रक्खा नहीं जा सकता था। अला-

उद्दीन चतुर तथा व्यवहार कुशल राजनीतिज्ञ था, इसलिए उसने ऐसे उपाय निकाले जिनसे राजकोष पर अनुचित बोझ डाले बिना सेना में आवश्यकतानुसार वृद्धि की जा सके। उसने जीवन निर्वाह की वस्तुओं के मूल्य को माँग तथा पूर्ति के नियमों के अनुसार घटने-बढ़ने नहीं दिया बल्कि उस कठोर तथा स्थायीरूप से निश्चित कर दिया। एक सैनिक का वेतन२३४ टका निश्चित किया गया, जो दो घोड़े रखता उसे ७८ टका अतिरिक्त भत्ता भी मिलता था। इस धन से वह साल भर अपने परिवार का व्यय चलाता तथा अपने को घोड़ा तथा हथियारों से सुसज्जित रखता। इसलिए सुलतान ने नियम बनाया कि आवश्यक वस्तुओं का मूल्य वही होगा जो सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य-सूची में दिया हुआ है। गेहूँ का भाव ७॥ जीतल, जौ का ४ जीतल और धान का ५ जीतल प्रति मन से अधिक न होगा। शक्कर का भाव $1\frac{1}{3}$ जीतल और कच्चे गुड़ का $\frac{1}{3}$ जीतल प्रति सेर तथा नमक का ? जीतल प्रतिमन निश्चित किया गया। कोई वस्तु ऐसी नहीं थी जो मूल्य तालिका में सम्मिलित न की गई हो। सागों, फलों, तेलों, टोपियों, जूतों, कन्घों तथा सुइयों और यहाँ तक कि ग़ुलामों तथा बाजारू लड़कियों का भी मूल्य निश्चित कर दिया गया। एक सेविका का मूल्य ५ से १२ टका, एक घरूल (रखैल) स्त्री का २० से ४० टका, एक ग़ुलाम-मज़दूर का १० से १५ टंका और एक सुन्दर चाकर का २० से ३० टंका तक था। दिलचस्प बात यह थी कि प्रत्येक श्रेणी के घोड़ों का भाव इससे अच्छा था। प्रथम श्रेणी का घोड़ा १०० से १२० टंका में, द्वितीय श्रेणी का ८० से ९० और तृतीय का ६५ से ७० टका तक में बिकता था। टट्टू भी १० से २५ टका के भाव में बिक जाते थे। गायें तथा बकरियाँ अपेक्षाकृत सस्ती थीं एक गाय का मूल्य १ से ४ टंका तक और एक बकरी का १० से १४ जीतल तक होता था।

सघट-काल का सामना करने के लिये अन्न सरकारी खत्तियों में जमा कर लिया जाता था और उन्हें भरने के लिए दोआब के खालसा गाँवों से राजस्व उपज के रूप में वसूल किया जाता था। इसलिए अनावृष्टि के समय भी लोगों को अन्नाभाव नहीं अनुभव होता था। दोआब से १०० कोस के भीतर के प्रदेश में किसी किसान को १० मन भी अन्न जमा करने की आज्ञा नहीं थी, बचा हुआ सभी नाज लाइसैंस प्राप्त व्यापारियों के हाथ निर्धारित मूल्य पर बेचना पड़ता था। देश में अभाव के समय केन्द्रीय बाजार से अन्न दिया जाता था और एक व्यक्ति आधे मन से अधिक नहीं खरीद सकता था।

मोरलैण्ड ने इस आर्थिक व्यवस्था का सारांश इस प्रकार दिया है. (१) आवश्यकता की वस्तुओं का नियन्त्रण, (२) यातायात पर नियन्त्रण, तथा (३) आवश्यकता पड़ने पर उपभोग की वस्तुओं की खुराक-बन्दी (राशन)। सम्पूर्ण व्यवस्था दो चीजों पर निर्भर थी: (१) सुसंगठित गुप्तचर विभाग, तथा (२) नियम भंग करने वालों को कठोर दण्ड। मोरलैण्ड

लिखता है, "यही सारांश इंगलैण्ड में युद्धकाल में लागू किये गये नियन्त्रण का था जिसे अनुभव ने प्रभावोत्पादक सिद्ध किया था।" बरनी अलाउद्दीन के बाजार-नियन्त्रण की सफलता के ये कारण बतलाता है, (१) नियमों का कठोरतापूर्वक लागू किया जाना, (२) तत्परता के साथ राजस्व की वसूलयाबी, (३) धातु के सिक्कों का अभाव, और (४) पदाधिकारियों का उत्साह जिन्हें सदैव सुल्तान का डर लगा रहता था। इन नियमों को कार्यान्वित करने के लिए जिस सरकारी विभाग का निर्माण किया गया था। उस पर दृष्टिपात करने से पाठक को इस कथन की सत्यता में विश्वास हो जायगा।

इस सम्पूर्ण व्यवस्था का संचालन शहाना-इ-मंडी नामक पदाधिकारी करता था और उसकी सहायता के लिए अधीन पदाधिकारियों का एक सुयोग्य मण्डल था। लाइसैंस प्राप्त व्यापारियों का एक दफ्तर (रजिस्टर) रहता था और जिस व्यापारी का नाम रजिस्टर में नहीं लिखा होता था उसे किसी प्रकार का व्यवसाय करने की आज्ञा नहीं थी। सूचना देने वालों का एक सुसंगठित दल सुल्तान को दिन प्रतिदिन बाजार की घटनाओं से अवगत करता रहता था। एक दो अवसरों पर स्वयं शहाना-इ-मंडी को भी २१ कोड़ों का दण्ड दिया गया था क्योंकि उसने अन्न के मूल्य में कुछ वृद्धि करने का सुझाव दिया था। यदि मार्ग-नियन्त्रण में असावधानी के कारण कभी कोई व्यक्ति भीड़ में कुचल कर मर जाता तो इसका दण्ड भी शहाना को ही भुगतना पड़ता था। मूल्य-नियन्त्रण सम्बन्धी नियमों के उल्लघन के लिए सजाएं अत्यधिक कठोर थीं। उदाहरण के लिए यदि कभी कोई दुकानदार निश्चित मूल्य लेकर सौदा कम तौल कर देता, तो पकडे जाने पर उसे शाइलॉकी सिद्धान्त के अनुसार अपने शरीर का माँस देकर वज़न पूरा करना पड़ता था।

अलाउद्दीन ने भूराजस्व में वृद्धि करके उसे उपज का ५० प्रतिशत तक कर दिया, और जो राजस्व पदाधिकारी घूस लेने के अपराध में पकडे जाते, उन्हे लाठियों, सड़सियों और शिकजों से यातना दी जाती, कारागार में डाला जाता और जजीरों में बाँधा जाता था। इस कारण पदाधिकारी इतने सजग तथा कर्तव्य-पालन में इतने कठोर हो गये कि लोग उन्हें ताऊन (प्लेग) से भी अधिक घातक समझने लगे, "और सरकारी लिपिकार (क्लार्क) होने का अपमान मृत्यु से भी बुरा माना जाने लगा क्योंकि कोई हिन्दू ऐसे व्यक्ति के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने के लिए तैयार न होता था।"

अत्याचार का अराजकता में अन्त

२ जनवरी १३१६ ई० को अलाउद्दीन की मृत्यु हुई और उसके साथ-साथ उसके बीस वर्ष के अत्याचारपूर्ण शासन का अन्त हो गया। असंयमी जीवन तथा काम के अत्यधिक बोझ ने—जैसा कि सभी अत्याचारी शासकों पर पड़ता है—

के लिये समस्त राज्य को छोटे-छोटे प्रान्तों में विभक्त कर दिया गया और वारंगल का नाम सुल्तानपुर रक्खा गया। इस प्रकार उद्दण्ड हिन्दू सामन्तों के स्थान पर मुसलमान सूबेदार नियुक्त करने की नीति आरम्भ की गई। विजयी राजकुमार मार्ग में बीदर तथा जाजनगर को जीतता हुआ दिल्ली लौटा, और इस्लाम की इस विजय के उपलक्ष में राजधानी में बड़ी धूम-धाम से उत्सव मनाया गया।

बंगाल पर आक्रमण—बंगाल में बुगरा खाँ के नातियों में उत्तराधिकार के लिये युद्ध छिड़ गया जिसके कारण १३२४ ई० में दिल्ली सुल्तान को उस प्रान्त की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। इस बार गियासुद्दीन ने स्वयं राजधानी का भार युवराज को सौंप कर लखनौती के लिये प्रस्थान किया। जैसा कि आगे की घटनाओं से स्पष्ट हो गया, यह व्यवस्था सुल्तान के लिये घातक सिद्ध हुई। आक्रमण में गियासुद्दीन को वास्तव में, महत्त्वपूर्ण सफलता मिली। बहादुर के स्थान पर नासिरुद्दीन को जो उससे अधिक दब्बू था बंगाल की गद्दी पर बिठला दिया गया और शाही अनुग्रह के प्रतीक स्वरूप उसे एक राज-दण्ड तथा एक मण्डप प्रदान किये गये। लौटते समय मार्ग में तिरहुत के राजा ने सुल्तान का विरोध किया किन्तु वह भी पराजित हुआ और उसके स्थान पर एक मुस्लिम सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। किन्तु इसी बीच में बूढ़े सुल्तान के लिये स्वय उसकी राजधानी में विश्वासघात का जाल बिछ चुका था। युवराज जूना ने अत्यधिक धूम-धाम से अपने पिता का स्वागत करने की व्यवस्था की और इस उद्देश्य से नगर से कुछ दूर एक विशेष प्रकार का मण्डप तैयार किया गया। उत्सव के दौरान में जब गियासुद्दीन अपने प्रिय छोटे पुत्र सहित अन्य लोगों से कुछ अलग हुआ, उसी समय वह पूरा मण्डप उन दोनों के सिर पर गिर पड़ा और पिता पुत्र की मृत्यु हो गई, जिसका कोई पहले से डर नहीं था। जब मलवा साफ किया गया तो बूढे सुल्तान का शव अपने पुत्र के शरीर के ऊपर झुका हुआ मिला, मानो वृद्ध पिता ने उसे उस विपत्ति से बचाने का प्रयत्न किया था। इब्न-बतूता के कथन से तथा अन्य अप्रत्यक्ष साक्ष्य के आधार पर यह कहा गया है कि इस समस्त दुर्घटना का उत्तरदायित्व युवराज के ऊपर था जो इससे पहले तैलिं-गाना में प्रभुत्व धारण करने में विफल हो चुका था। यह दुर्घटना फरवरी १३२५ ई० की है। इसके तीन दिन बाद उलुग खाँ तुगलकाबाद के किले में जिसका निर्माण उसके पिता ने करवाया था, सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार गियासुद्दीन तुगलक के शासन का आरम्भ तथा अन्त हुआ, जलालुद्दीन की भाँति उसने भी वृद्धावस्था में एक नये राजवंश की नींव डाली किन्तु शीघ्र ही उसे भी अपने अधिक प्रसिद्ध, महत्वाकांक्षी तथा उतावले उत्तराधिकारी के लिये स्थान रिक्त करना पड़ा। प्रथम खलजी तथा प्रथम तुगलक में केवल इतनी ही समानता थी, अन्य सभी दृष्टि से वे एक दूसरे से भिन्न थे।

जलालुद्दीन का शासन अशक्त, दुर्बल तथा मूर्खतापूर्ण था, उसके विपरीत गियासुद्दीन का शक्तिशाली, तेजपूर्ण तथा सफल सिद्ध हुआ। महत्त्वपूर्ण बातों में

पहले की तुलना मुगल सम्राट बहादुर शाह से की जा सकती है, और दूसरा हमें शेरशाह सूर का स्मरण दिलाता है। विशेषकर प्रशासन-नीति में तुग़लक शाह प्रथम को परवर्ती शेरशाह का मूलरूप समझना चाहिये। किन्तु दोनों में पूर्ण सादृश्य ढूँढना व्यर्थ है। ऐतिहासिक समानताएँ संकेतात्मक होती हैं, यथार्थ प्रतिकृति नहीं।

ग़ियासुद्दीन का शासन—डा० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, "सरकार के संविधानिक ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं किये गये, और न नये संगठनों का ही निर्माण किया गया, जैसा कि उसके यशस्वी पुत्र मुहम्मद तुगलक के समय में हुआ।" किन्तु "उसका शासन न्याय तथा उदारता के सिद्धान्तों पर आधारित था और अपने नियमों को कार्यान्वित करने में वह सार्वजनिक सुख की वृद्धि का ध्यान रखता था।" *

वित्तीय व्यवस्था उस समय प्रशासन की कुंजी थी। मुबारक और खुसरू दोनों ने उड़ाऊ लोगों की भाँति धन बहाया था, जिसके परिणामस्वरूप ग़ियासुद्दीन को खाली ख़ज़ाना मिला। उसने भली-भाँति जाँच करवाई और जिन लोगों ने अनुचित ढंग से धन हड़प लिया था उनसे उसे वापिस लेने लिये कठोर उपाय किये। ऐसे लोगों को जिनके अपराध क्षम्य थे, सुल्तान ने जैसा कि हम पहले कह आये हैं, आसान किस्तों में धन लौटाने की आज्ञा दे दी।" भ्रष्टाचार तथा गबन रोकने के लिये उसने पदाधिकारियों को अच्छे वेतन दिये और उच्च पदों पर उन्हीं लोगों को रखा जिन्होंने अपनी राजभक्ति का प्रमाण दिया। पारितोषिक बाँटने में उसने पद, योग्यता तथा सेवा-काल का ध्यान रखा और अनुचित भेद-भाव से बचने का प्रयत्न किया। वह सनकी तथा निरंकुश शासक नहीं था बल्कि समझदार तथा विचारवान सुल्तान था और राज्य के महत्वपूर्ण विषयों में सदैव अपने सलाहकारों से मंत्रणा करता था।

ग़ियासुद्दीन की राजनीतिज्ञता जितनी उसकी राजस्व नीति से प्रकट होती है उतनी अन्य किसी चीज़ से नहीं। उसने राजस्व की वसूलयाबी के लिये ठेका देने की प्रथा जो प्रारम्भिक मुस्लिम शासन की सामन्ती अवस्थाओं में बहुत पहले से चली आ रही थी, बन्द कर दी। लुटेरे राजस्व—ठेकेदारों को 'दीवाने-विज़ारत' तक फटकने की भी आज्ञा नहीं थी। अलाउद्दीन द्वारा निर्धारित करों में परिवर्तन नहीं किया गया किन्तु वसूल करने वाले पदाधिकारियों के अत्याचारों की रोक-थाम की गई। अमीरों तथा मलिकों को अपने शुल्क के रूप में अपने प्रान्तों के राजस्व का $\frac{1}{15}$ से $\frac{1}{10}$ तक अधिक लेने का अधिकार नहीं था, और कारकुन तथा मुतसर्रिफ लोग ५ से १० प्रति हजार से अधिक न ले सकते थे। जिन क्षेत्रों में राजस्व में थोड़ी-सी वृद्धि करना उचित भी होता वहाँ भी, जैसा कि बरनी लिखता है, 'खिराज धीरे-धीरे कई वर्षों में बढ़ाया जाता

* History of Qaraunah Turks, जिल्द द्वितीय, पृष्ठ ४० ।

था न कि एक साथ क्योंकि ऐसा करने से देश को हानि होती है और उन्नति का मार्ग रुक जाता है।' शेरशाह सूर (दो शताब्दियों बाद) से पहले ऐसा और कोई सुल्तान नहीं हुआ जिसके प्रजा के हित के सम्बन्ध में इतने उदार विचार रहे थे। "जागीरदारों और हाकिमों को खिराज वसूल करने में सावधानी से काम लेने की हिदायत दी गई जिससे खुत और मुकद्दम जनता पर राज्य कर के अतिरिक्त और बोझ न डाल सकें।"..... "अनावृष्टि के समय में लगान में भारी छूट दी जाती थी और न चुकाने वालों के साथ उदारता का व्यवहार किया जाता था। धन के लिये किसी व्यक्ति को बन्धक बनाने की आज्ञा नहीं थी और राज्य की ओर से लोगों को इस बात की सुविधा दी जाती थी कि वे बिना किसी कष्ट और झंझट के अपना कर चुका सकें।"

राज्य के अन्य विभागों की ओर भी सुल्तान ने ऐसा ही सूक्ष्म ध्यान दिया। दरिद्रों की सहायता की व्यवस्था की गई और न्याय तथा पुलिस का प्रबन्ध इतना अच्छा किया गया कि मुस्लिम लेखकों के शब्दों में, 'भेड़िये को मैमने को पकड़ने का साहस न होता और शेर तथा हिरन एक घाट पानी पीते।' गियासुद्दीन स्वयम् अनुभवी सैनिक था इसलिये फौज के छोटे से छोटे सैनिक के प्रति उसका व्यवहार प्रेमपूर्ण था और उसकी सुयोग्यता तथा मनोबल बढ़ाने में उसे बहुत सफलता मिली। जागीरदारों की ठगी को—जैसी कि बलबन को पंजाब में देखने को मिली थी—रोकने के लिये अलाउद्दीन की घोड़ों को दागने तथा उनकी हुलिया का विस्तृत विवरण रजिस्टरों में रखने की परिपाटी जारी की गई, और "एक अत्यन्त सुयोग्य डाक-विभाग" का पुन निर्माण किया गया।

अपनी सहज सफलता तथा सहसा सम्राट के पद पर पहुँचने के बावजूद ग़ाज़ी मलिक ने अपने जीवन की पुरानी सरलता तथा आत्म-संयम को नहीं त्यागा। यद्यपि वह बलबन तथा अलाउद्दीन की भाँति कठोर था, फिर भी उसके प्रत्येक कार्य में मनुष्यता का पुट रहता था। मूलत वह कर्मनिष्ठ व्यक्ति था और युद्ध में उसने अनुभव प्राप्त किया था, तथापि वह अमीर खुसरू जैसे कवियों को आश्रय दिया करता था। अलाउद्दीन तथा मुबारक के भाग्य से उसे चेतावनी मिली थी, इसलिये उसने कभी अपने को इन्द्रिय भोगों में लिप्त नहीं किया, और 'दाढ़ी-मूछ रहित सुन्दर बालकों' से—उस युग का मुख्य दुर्व्यसन—उसे स्वभावत घृणा थी। प्रभुताप्रेमी तथा कट्टर आचरण वाला होने पर भी गियासुद्दीन ने सार्वजनिक जीवन तथा राजकीय कार्यों में बलबन और औरंगज़ेब के से अत्याचारों तथा तड़क-भड़क दोनों से ही अपने को दूर रक्खा। अपने अल्प राज्य-काल में उसने दिल्ली साम्राज्य को लगे कलंक को धोने, अस्त-व्यस्त हुई शासन-व्यवस्था को पुनः संगठित करने तथा खुसरू के शासन-काल में लुप्त हुई राजत्व की शक्ति तथा प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसके दरबारी कवि अमीर खुसरू ने निम्न शब्दों में उसकी जो प्रशंसा की है वह सर्वथा उपयुक्त है।

"उसके प्रत्येक कार्य से उसकी बुद्धिमत्ता तथा चतुराई प्रकट होती थी और ऐसा प्रतीत होता था कि उसके मुकुट के नीचे योग्यताओं का निवास है।"

रहस्यमय सुल्तान महमूद

पितृघाती राजकुमार जूना फरवरी अथवा मार्च १३२५ में मुहम्मद तुग़लक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और अगले छब्बीस वर्ष तक उसने शासन किया, तब से लेकर अब तक उसका चरित्र विद्वानों के लिये चिन्तन का विषय बना हुआ है। उसके आलोचकों ने उसका शैतान के वास्तविक अवतार के रूप में चित्रण किया है, जब कि उससे अतिशय सहानुभूति रखने वाले समालोचकों का कथन है कि "मध्य युग के सुल्तानों में वह निस्सन्देह योग्यतम व्यक्ति था।" इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अपने युग के लोगों के लिये मुहम्मद एक पहेली था और वही अब तक बना हुआ है। बरनी तथा इब्नबतूता दोनों उसके समसामयिक थे और उन्होंने जो कुछ देखा तथा अनुभव किया था, उसका विशद वर्णन छोड़ गये हैं। उन्होंने उसकी अनेक स्वाभाविक प्रतिभाओं तथा शोभनीय गुणों की सराहना तथा प्रशंसा की है किन्तु साथ ही साथ वे बिना किसी संकोच के उन चीज़ों को भी लेखबद्ध करने से नहीं चूके जिनका उसके चरित्र के उज्ज्वल पक्ष से मेल नहीं खाता था। उनके निजी भाव कुछ भी रहे हों (बहुत कम व्यक्ति उनसे मुक्त होते हैं) किन्तु हम उनके उस साक्ष्य के लिये बहुत ऋणी हैं जिसे वे अपने पीछे छोड़ गये हैं और जो स्मिथ के शब्दों में "असाधारण रूप से विस्तृत तथा सही है"। इस बात का ध्यान रखते हुए भी कि उन्होंने जो कुछ लिखा है उस पर उनके निजी भावों की छाप है, उनके पृष्ठों से मुहम्मद के व्यक्तित्व तथा उसके समय का सच्चा चित्र प्राप्त करना कठिन नहीं है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि हम उसे अन्याय का राक्षस कह कर उसके चरित्र को दोष दें अथवा उसके स्पष्ट अवगुणों को विद्वत्तापूर्वक उचित ठहराने का प्रयत्न करें। हमें चाहिये कि सबसे पहले उसके शासन काल के अकाट्य तथ्यों की निष्पक्ष समीक्षा करें और फिर उनके आधार पर जो निर्णय उचित हो, दें।

अनुकूल परिस्थितियों में शासन का प्रारम्भ—सबसे पहले ध्यान देने की बात यह है कि मुहम्मद ने सुल्तान के रूप में अपना जीवन अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में आरम्भ किया। यद्यपि इससे पहले उसने राज्य प्राप्त करने के लिए निन्दनीय प्रयत्न किये थे फिर भी सिंहासनारोहण के समय स्थिति बिलकुल भी उसके प्रतिकूल नहीं थी। "अपने अत्यधिक सम्मानित पिता के बाद वह सिंहासन पर बैठा था और स्वयं उसका भी अच्छा यश था। वह एक महान् सेनानायक के रूप में प्रसिद्ध था और उसका निजी जीवन संयत ही नहीं बल्कि कठोर था। समस्त देश में शान्ति थी और दूरस्थ प्रान्त पुन विजय कर लिये गये थे।" मुहम्मद तुग़लक जैसे प्रतिभाशाली शासक को भी इससे अधिक और कुछ की

चाह नहीं हो सकती थी। इसके अतिरित "वह अपने युग के सांस्कृतिक विषयों में पारंगत था, फारसी—भारतीय लैटिन—के काव्य में उसकी अच्छी गति थी लेखन-शैली पर उसका अधिकार था, व्याख्यान कला के उस युग में भी वह अत्यधिक प्रभावशाली वक्ता माना जाता था, वह दार्शनिक भी था और यूनानी हेतु विद्या तथा आध्यात्म विज्ञान में उसे अच्छी शिक्षा मिली थी जिसके कारण बढे-बडे विद्वान् उससे वाद-विवाद करने में डरते थे, वह गणितज्ञ था और विज्ञान में भी उसकी रुचि थी। उसके समसामयिक लेखकों ने उसके निबन्ध-चातुर्य तथ सुलेखन-कला की प्रशंसा की है। उसके सिक्कों से विदित होता है कि अरबी अक्षरों को मिलाने की कला में उसकी सुरुचि वैज्ञानिक थी, अरबी भाषा को वह पढ़ तथा समझ सकता था किन्तु भली-भाँति बोल नहीं पाता था।" ऐसा व्यक्तित्व था सुलतान मुहम्मद का जिसकी छाप उसकी साहसपूर्ण योजनाओं पर पड़ी और उनकी भयंकर विफलता के कारण ही उसे 'इस्लामी जगत का सबसे अधिक विद्वान मूर्ख' की संदिग्ध उपाधि मिली।

दोआब का उत्पीडन—अपने युग के सभी अपहरणकर्त्ताओं का अनुकरण करते हुए मुहम्मद ने अपने राज्याभिषेक के समय लोगों में खूब सोना लुटाया, जिससे उसका कोष जो उसके पिता की व्यावहारिक बुद्धि के फलस्वरूप भर गया था, खाली हो गया। इसलिये उसे राजस्व में वृद्धि करने की आवश्यकता हुई। इसके अतिरिक्त उन महान विजय योजनाओं के लिये भी धन की आवश्यकता थी जो उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रहीं थीं। सबसे पहले दोआब के धनी प्रान्त में राजस्व वृद्धि का प्रयोग किया गया। भूमि कर बढ़ा दिया गया और कुछ नये अव्वाब भी लगा दिये गये। बरनी के शब्दों में परिणाम यह हुआ कि 'रैयत की रीढ़ टूट गई, अन्न महँगा हो गया, वर्षा कम हुई इसलिये चारों ओर दुर्भिक्ष फैल गया। वह कई वर्ष तक चलता रहा जिससे हजारों व्यक्तियों का जीवन नष्ट हो गया।' बरनी की जन्म-भूमि बरन को भी दुर्भिक्ष के कारण बहुत कष्ट भोगने पडे थे, इसलिये उसके वर्णन में अतिशयोक्ति का कुछ पुट हो सकता है किन्तु उसे निकाल कर भी डा० ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं, "दुर्भाग्य से यह योजना उस समय कार्यान्वित की गई जब कि दोआब में एक भयंकर अकाल पड़ रहा था और उसके प्रभावों के कारण जनता के कष्ट और भी अधिक बढ़ गये। किन्तु इससे सुलतान सर्वथा दोष-मुक्त नहीं हो जाता क्योंकि उसके पदाधिकारी बढ़ी हुई दर से अत्यन्त कठोरतापूर्वक कर वसूल करते रहे और अकाल की उन्होंने कोई परवाह न की। ... उपचार किया गया किन्तु बहुत देर से।"

दिल्ली से देवगिरि को—इसके बाद मुहम्मद तुग़लक ने दिल्ली को छोड़ कर देवगिरि को अपनी राजधानी बनाया (१३२६-२७ ई०) और उसका नाम दौलताबाद रखा। राजधानी परिवर्तन के विचार में मूर्खता की कोई बात नहीं थी। आजकल के युग में भी यातायात की सुविधाओं को ध्यान में रख कर

राजधानियाँ बदली जाती हैं। उस युग में दिल्ली-साम्राज्य का विस्तार इतना बढ़ गया था कि दिल्ली से उस पर सरलता से नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता था। दौलताबाद, जैसा कि बरनी लिखता है कि 'साम्राज्य के केन्द्र में स्थित था और दिल्ली, गुजरात, लखनौती तिलंग तथा अन्य मुख्य स्थानों से लगभग बराबर दूर (७०० मील) था।' किन्तु जिस ढंग से महमूद ने इस विचार को कार्यान्वित किया, वह उपहासास्पद सिद्ध हुआ।

बरनी लिखता है, 'उसने बिना किसी से मन्त्रणा किये अथवा बिना योजना के गुण-दोषों को समीक्षा किये ही दिल्ली का, जो १७० अथवा १८० वर्ष से समृद्ध होती आ रही थी और जो बगदाद तथा काहिरा से प्रतिस्पर्धा करती थी, नाश कर दिया। नगर, उसकी सराएँ, किनारे के भाग तथा गाँव, चार-पाँच कोस की परिधि में फैले हुए थे, वे सब नष्ट अथवा ऊजड़ हो गये। एक बिल्ली अथवा कुत्ता भी न बचा। लोगों को अपने परिवारों सहित नगर छोड़ने पर बाध्य किया गया, उनके हृदय टूट गये, उनमें से अनेक मार्ग में ही नष्ट हो गये और जो देवगिरि पहुँच भी गये वे भी अपने निर्वासन को न सह सकने के कारण घुल-घुल कर मर गये। काफिरों की भूमि देवगिरि के चारों ओर मुसलमानों की कब्रें फैल गईं। सुल्तान ने मार्ग में तथा वहाँ पहुँचने पर लोगों की बहुत सहायता की, किन्तु सुकोमल होने के कारण वे निर्वासन को न सह सके। वे उस काफिरों के देश में जाकर पड़ गये और उन असंख्य लोगों में से बहुत कम अपनी जन्म-भूमि को पुनः लौटने के लिये बच सके।'

सुल्तान के इस कार्य का जो परिणाम हुआ उसका विशद वर्णन नहीं किया जा सकता, कल्पना से पाठक उसे अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। मुहम्मद ने अपनी भयंकर भूल को अनुभव किया और बचे हुए लोगों को दिल्ली लौटने की आज्ञा दे दी। लेनपूल लिखते हैं कि दौलताबाद मुहम्मद की "शक्ति के दुरुपयोग का स्मारक" था। इस विशाल प्रयोग की स्मृति को जीवित रखने के लिये महमूद ने कुछ सिक्के चलाये जिन पर 'दार-उल-इस्लाम' शब्द उत्कीर्ण था। जब इब्नबतूता १३३३ ई० में दिल्ली आया, उस समय उस नगर को फिर से बसाया जा रहा था किन्तु वहाँ के निवासियों को इस ऐतिहासिक निष्क्रमण की क्षति को पूरा करने में बहुत समय लगा।

मंगोलों के आक्रमण—दिल्ली को छोड़ने का सबसे पहला फल यह हुआ कि मंगोल नेता तर्माशिरीं ने १३२८-२९ ई० में पंजाब पर आक्रमण कर दिया। गियासुद्दीन ने पश्चिमी सीमाओं की इतनी सुदृढ़ किलेबन्दी कर दी थी कि जब तक वह जीवित रहा मंगोल भारत में आने का साहस न कर सके। किन्तु कुछ समय पहले देश में जो घटनायें हुईं थीं, उनसे मंगोलों को भारत पर आक्रमण करने का फिर अवसर मिल गया। जिस क्रान्ति द्वारा मुहम्मद ने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया था उसका समाचार मंगोलों के पास अवश्य पहुँच गया होगा और इसी प्रकार उन्होंने दोआब में दुर्भिक्ष तथा उत्पीड़न तथा राजधानी

को सुदूर दक्षिण में ले जाने के कारण जनता को जो कष्ट हुए थे और उनसे जो असन्तोष फैला था, उसका भी समाचार सुन लिया होगा। इसलिये स्थिति आक्रमण के अनुकूल थी। "लमग़ान, मुल्तान तथा उत्तरी प्रान्तों पर अधिकार करके मुग़लों (इसके बाद हम उन्हें इस नाम से पुकार सकते हैं) ने मुल्तान और लाहौर से लेकर दिल्ली के समीप तक के समस्त प्रदेश को रौंद डाला। समन, इन्दरी तथा बदायूं के ज़िलों को भी उनके हाथों कष्ट भोगने पड़े।" जब मुहम्मद ने अपनी राजधानी बदली थी, उस समय उसे इस संकट की चेतावनी दे दी गई थी किन्तु उसने एक न सुनी। और अब, जबकि तूफ़ान सचमुच टूट पड़ा था, उनके पास उन हत्यारों को धन देकर लौटाने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न था, जैसा कि इङ्गलैण्ड में 'असावधान' एथिलरैड ने डैन लोगों के साथ किया था।

मुद्रा-प्रयोग—अब तक की सब घटनाओं का केवल एक परिणाम हुआ था। राज्याभिषेक के समय की अपव्ययता, दोआब में कर-वृद्धि के प्रयोग की विफलता, दुर्भिक्ष, राजधानी को दो बार बदलने का व्यय, दिल्ली को फिर से बसाने का व्यय और अन्त में मुग़लों से राज्य बचाने का मूल्य—इन सब कारणों से राज-कोष खाली हो गया था। जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध था नौसिखिया सुल्तान साधन-सम्पन्न था और उसने मुद्रा-सुधार की नई योजना तैयार की—अलाउद्दीन खलजी की भाँति वस्तुओं तथा उनके मूल्य के नियन्त्रण की नहीं। मुहम्मद ने अपने पूर्वाधिकारियों की भद्दी-भोंडी मुद्रा प्रणाली में जो सुधार किये, उनके लिये उसकी बहुत प्रशंसा की गई है, उसे 'मुद्रा ढालने वालों का सरताज' कहा गया है। जहाँ तक मुहम्मद के अन्य मुद्रा सुधारों का सम्बन्ध था, यह प्रशंसा पूर्णरूप से उपयुक्त थी, हम उसका खण्डन नहीं करते। किन्तु यहाँ हमें उसके केवल एक सुधार के सम्बन्ध में लिखना है—सांकेतिक मुद्रा का चलाना। इस प्रयोग के सम्बन्ध में निर्णय देते समय हमें इसके आन्तरिक गुणों का ही ध्यान रखना चाहिये, मुद्रा के क्षेत्र में मुहम्मद ने जो अन्य अनुपूरक सुधार किये उन्हें लेकर प्रश्न को जटिल बनाना उचित नहीं है। इससे पहले मुहम्मद ने सोने का 'दीनार' चलाया था, जिसका भार २०१.६ ग्रेन था। १४४ ग्रेन ग्रेन भार का 'अदली' भी फिर से प्रचलित किया गया था। साधारण क्रय-विक्रय को अधिक सुविधापूर्ण बनाने के लिये सुल्तान ने 'दोकनी' अथवा 'सुलतानी' नाम का सिक्का भी जारी किया था। इस पुस्तक में अन्यत्र जो चित्र दिये हैं हैं उनसे स्पष्ट हो जायगा कि दिल्ली के पूर्व सुलतानों की तुलना में मुहम्मद के सिक्के कलात्मकरूप, बनावट तथा सफाई की दृष्टि से कहीं अधिक सुन्दर थे।

टौमस लिखते हैं, "मुद्रा ढालने वालों के सरताज के रूप में ही मुहम्मद बिन तुग़लक विशेषकर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। प्रकार की नवीनता तथा विभिन्नता, दोनों की दृष्टि से उसके सिक्के शिक्षाप्रद हैं। रूप तथा बनावट की
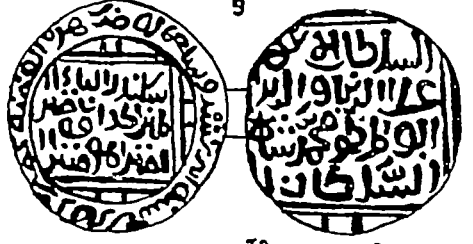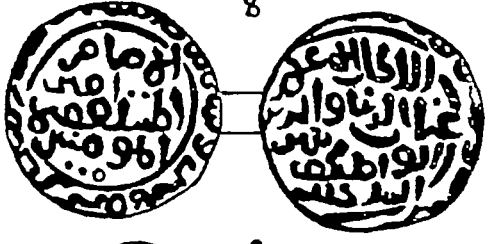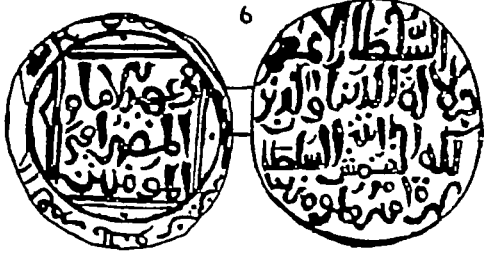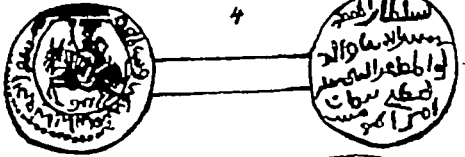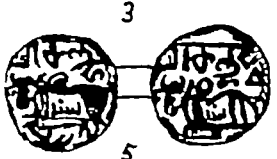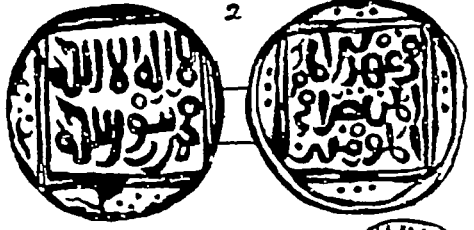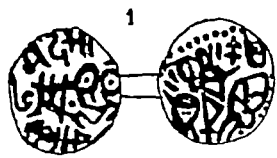
कलात्मक श्रेष्ठता को ध्यान में रखते हुए भी वे अधिक सराहनीय हैं, और उनका विशेष महत्व इसलिए है कि वे स्वयं सुल्तान के व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करते हैं····।" श्री० जे० सी० ब्राउन टौमस के इस मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं, टौमस का मुहम्मद तुगलक को 'मुद्रा चलानेवालों का सरताज' कहना अनुचित नहीं है। यही नहीं कि उसके सिक्के बनावट तथा सुलेख की दृष्टि से उसके पूर्वाधिकारियों के सिक्कों से श्रेष्ठ हैं वरन् अपने बहुत से सोने के सिक्कों, विभिन्न मूल्यों के अनेक सिक्के चलाने, उन पर उत्कीर्ण लेखों जिनसे उसका चरित्र तथा कार्य प्रतिबिम्बित होते हैं, मुद्रा-सम्बन्धी प्रयोग, विशेषकर अनिवार्य मुद्रा आदि के कारण वह इतिहास के महानतम मुद्रास्वामियों के समकक्ष स्थान पाने योग्य है।"*

इन सब श्रेष्ठताओं को मानते हुए हमें यह देखना है कि उसके सांकेतिक सिक्कों का क्या महत्व था।

बरनी लिखता है, 'तीसरी योजना ने भी भारी क्षति पहुँचाई ताँबे के सिक्के चलाये गये और उन्हें सोने तथा चाँदी के असली सिक्कों की भाँति प्रयोग करने की आज्ञा दी गई उस आज्ञा से प्रत्येक हिन्दू (?) का घर टकसाल बन गया और प्रान्तों के निवासियों ने लाखों और करोड़ों ताँबे के सिक्के बना डाले और उन्हीं से वे राजस्व चुकाते और घोड़े, अस्त्र शस्त्र तथा सब प्रकार की सुन्दर वस्तुएँ खरीदते। इन ताँबे के सिक्कों के कारण राय, गाँवों के मुखिया तथा भूमिधर धनी हो गये किन्तु राज्य की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। कुछ ही समय में यह नौबत आ गई कि दूरस्थ देशों के लोग ताँबे के टका को केवल धातु के मूल्य में स्वीकार करने को तैयार होते और उन स्थानों में जहाँ सुल्तान की इस आज्ञा के लिये लोगों में सम्मान शेष था, वहाँ एक सोने के टका का मूल्य १०० ताँबे के टका तक पहुँच गया। प्रत्येक सुनार अपनी दुकान में सिक्के ढालने लगा और राजकोष उनसे भर गया। उनका मूल्य इतना गिर गया कि उन्हें कोई गुट्टियों तथा कंकड़ियों के भाव भी नहीं पूछता था। जब सुल्तान ने देखा कि व्यापार चौपट हो रहा है तो उसने अपनी आज्ञा रद कर दी और क्रोध में आ कर घोषणा की कि लोग ताँबे के सिक्के राजकोष में जमा कर दें और उनके बदले में सोने अथवा चाँदी के सिक्के ले लें। हजारों लोग बदलने के लिये सिक्के ले आये और तुगलकाबाद में पहाड़ों के समान ढेर लग गये।'

डा० ईश्वरीप्रसाद ने सुल्तान मुहम्मद को सनक, लालच तथा दिवालियेपन के आरोपों से मुक्त करने का बहुत प्रयत्न किया है। सुल्तान की ईमानदारी तथा सद्भावनाओं में सन्देह नहीं है, शाही कोष की साख का इसी से पता लगता है कि सुल्तान ने पुरानी मुद्राप्रणाली पुन स्थापित कर दी जिससे कोष पर इतना भारी बोझ पड़ा और फिर भी साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न नहीं हुई। किन्तु बरनी ने इस मुद्रा प्रयोग के दो कारण बतलाये हैं :

* The Coins of India, पृष्ठ ७३।

(१) ३७०,००० सेना को जो विजय-योजनाओं को पूरा करने के लिये आवश्यक थी, बनाये रखने के लिये धन की आवश्यकता, और (२) कोप में धन की कमी जिसका मुख्य कारण था उपहार आदि देने में सुल्तान की अपव्ययता। बरनी के इस कथन को चुनौती नहीं दी जा सकती। चाँदी के अभाव को भी हम ताँबे तथा पीतल के सिक्के चलाने का एक अनुपूरक कारण मान सकते हैं, यद्यपि यह समझना कठिन है कि "दक्षिण से हिन्दुस्तान में जो सोना आया था उससे चाँदी का अभाव तथा अवमूल्यन हो गया था और उससे एक विकट समस्या उठ खड़ी हुई थी।"

डा० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि इन परिस्थितियों में "मुद्राप्रसार करने की इच्छा के अतिरिक्त सुल्तान को नये प्रयोगों से भी प्रेम था क्योंकि उसके मस्तिष्क में मौलिकता बहुत थी और अपने युग की कलाओं तथा विज्ञानों से वह भली-भाँति परिचित था, इसीलिये वैज्ञानिक ढग से एक नया प्रयोग करने की उसको प्रेरणा हुई होगी। नई मुद्रा चालू करते समय सुल्तान ने लोगों को जो उपदेश दिया और बाद में उसने जो आचरण किया उससे वह सनकी होने के उस आरोप से जो आधुनिक इतिहासकारों ने उस पर लगाया है, पूर्णतया मुक्त हो जाता है।" यह निश्चित है कि सुल्तान में इच्छा-शक्ति की कमी नहीं थी और न एक बार सकल्प कर लेने पर अपनी आज्ञाओं को कार्यान्वित करने की क्षमता का ही उसमें अभाव था। उसने सार्वजनिक विरोध की सम्भावना को पहले से ही समझ लिया होगा किन्तु मध्य युग के कठोर स्वेच्छाचारियों की भाँति उसने अनुभव किया होगा कि धनी वर्गों के दुर्भाव अथवा प्रतिरोध के बावजूद इस योजना को सफल बनाने की मुझ में पर्याप्त शक्ति है। इस सम्बन्ध में मुहम्मद को प्रोत्साहन तथा चेतावनी देने के लिये चीन के कुबलाईखाँ तथा ईरान के गैखातू के प्रयोगों के अच्छे तथा बुरे परिणाम भी विद्यमान थे। फिर भी उसने अपनी योजना को उसी शीघ्रता से वापिस लेना आवश्यक नहीं समझा जिससे उसे प्रारम्भ किया था (१३३०–३२ ई०)। टौमस के इस कथन से महमूद की विफलता का कारण स्पष्ट हो जाता है, "ऐसी कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी जिससे राजकीय टकसाल के सिक्कों तथा साधारणतया कुशल कारीगरों द्वारा बनाये हुए निजी सिक्कों का अन्तर मालूम किया जा सकता। चीन में काग़ज़ के नोटों के अनुकरण को रोकने के लिये विशेष सावधानी बरती गई थी किन्तु यहाँ मुहम्मद तुगलक ने ताँबे के सिक्कों की असलियत की जाँच के लिये कोई उपाय नहीं किया था और न साधारण जनता द्वारा जाली सिक्कों के बनाने पर ही किसी प्रकार का प्रतिबन्ध था।" "सुल्तान के विचारों में मौलिकता थी और वह अपने युग की कलाओं तथा विज्ञानों में पारगत था," फिर भी उसने ऐसी अवैज्ञानिक भूल की, ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात नहीं है कि डा० ईश्वरीप्रसाद ने मुहम्मद तुगलक की असावधानी के लिये १४ वीं शताब्दी की जनता को दोषी ठहराया है, जब कि सामान्य बुद्धि तथ

निरीक्षण शक्ति रखने वाला व्यक्ति भी समझ सकता था कि ऐसी स्थिति में क्या सावधानी बरतनी चाहिये। डा० ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं, "उस युग की सामान्य जनता के लिये पीतल पीतल थी और ताँबा ताँबा था, राज्य की आवश्यकतायें कितनी ही महत्वपूर्ण हों, इसकी उसे चिन्ता नहीं थी।" किन्तु हम बरनी के कथन को पहले ही उद्धृत कर आये हैं जिससे स्पष्ट है कि अपने अनुदार (रूढ़िवादी) विचारों के बावजूद लोग पीतल तथा ताँबे के सिक्कों से 'घोड़े, अस्त्र शस्त्र तथा अन्य सुन्दर वस्तुयें' खरीदते और उन्हीं के द्वारा राज्य-कर चुकाते थे। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम स्वयं डा० ईश्वरीप्रसाद के ही इस कथन से सहमत हो सकते हैं, "जहाँ तक मानवीय कार्यों को समझने तथा मानव उद्देश्यों के विश्लेषण का सम्बन्ध है एक विद्वान् के विचार भ्रमपूर्ण तथा अस्पष्ट हो सकते हैं और सबसे सरल व्याख्या बहुधा सबसे अधिक सही तथा स्वाभाविक होती है।" उनका यह कथन पूर्णतया सत्य है, "नई मुद्रा चालू सोना तथा चाँदी से कहीं अधिक बढ़ गई थी। इसलिये यह स्वाभाविक था कि घटिया मुद्रा के भारी परिमाण में चलने से बढ़िया मुद्रा बाज़ार से उठ गई, जैसा कि ग्रेशम के सिद्धान्त के अनुसार हुआ करता है।"

अराजकता का दौर—अब हमें मुहम्मद तुगलक के राज्य-काल के राजनैतिक इतिहास पर दृष्टिपात करना चाहिए। वह छिन्न-भिन्न होने की दुखद कहानी है। सुलतान के शासन के प्रथम दस वर्ष शान्तिपूर्वक बीत गये और भावी विनाश के कोई लक्षण प्रकट नहीं हुए, किन्तु १३३५ तथा १३५१ के बीच एक के बाद एक अनेक प्रान्तों ने साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। तैलिंगाना और मैसूर, बंगाल और दक्षिण में लगातार और तेज़ी से विद्रोह हुए और शीघ्र ही वे प्रदेश हाथ से निकल गये। मुहम्मद के शासन के प्रारम्भ में साम्राज्य में २३ सूबे सम्मिलित थे और वह पश्चिम में सिन्ध तथा पंजाब से लेकर पूर्व में बिहार और बंगाल तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर और मदुरा तक फैला हुआ था, किन्तु सुलतान की मृत्यु के समय केवल हिन्दुस्तान खास पर और नाममात्र के लिये गुजरात पर दिल्ली का आधिपत्य रह गया था। यहाँ हम इस छिन्न-भिन्न होने की प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

माबर—सबसे पहला महत्वपूर्ण विद्रोह माबर में हुआ (१३३५ ई०)। जलालुद्दीन अहसनशाह ने जिसे माबर का भार सौंपा गया था, उत्तर की उलझनों से लाभ उठाकर विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। यद्यपि राजधानी के निकटवर्ती प्रदेश में दुर्भिक्ष तथा अराजकता फैली हुई थी, फिर भी मुहम्मद को स्वयं विद्रोह का दमन करने के लिये जाना पड़ा। एक विशाल सेना लेकर उसने दक्षिण के लिये प्रस्थान किया किन्तु मार्ग में उसे अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। हैजे के कारण उसकी सेना नष्ट भ्रष्ट होगई और आक्रमण विफल रहा।

बंगाल—तैलिंगाना के उपरान्त बंगाल में विद्रोह हुआ (१३३६–३७ ई०)।

फखुद्दीन ने जो पूर्वी बंगाल के सूबेदार का कवच-वाहक था, अपने सुल्तान का वध कर दिया और राजसत्ता का अपहरण कर लिया। लखनौती के सूबेदार कद्रखाँ ने उस पर आक्रमण किया किन्तु उसे भी मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा और फखुद्दीन ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। असहाय तथा चिन्ता-ग्रस्त सुल्तान उस प्रान्त पर पुनः अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये अँगुली भी न उठा सका। अपने अपहरणकर्ता के शासनकाल में बंगाल खूब फला-फूला और 'सुन्दर वस्तुओं से परिपूर्ण नरक' के नाम से विख्यात हुआ।

अवध—अवध को १३४०-४१ में विद्रोह करना पड़ा। उसका सूबेदार आइन-उल-मुल्क मुल्तानी, जिसका हम खुसरूशाह के सम्बन्ध में उल्लेख कर आये हैं, स्वामिभक्त पदाधिकारी था। वह एक महान् सैनिक तथा उत्कृष्ट साहित्यकार था। पहले एक अवसर पर उसने दुर्भिक्ष की भयंकरता को कम करने में सुल्तान की बहुत सहायता की थी। जिस समय सुल्तान गंगा तट पर स्थित स्वर्गद्वारी नामक नगर में जिसकी उसने स्वयं स्थापना की थी, डेरे डाले हुए था, उस समय आइन-उल-मुल्क ने पीड़ितों की सहायता के लिये ७०-८० लाख टका के मूल्य का अन्न उसके पास भेजा। उसने कड़ा के निज़ाम माई के विद्रोह का दमन किया था और विद्रोही की जीवित खाल खिंचवा कर और उसके शव को दिल्ली भेज कर अपनी राजभक्ति का परिचय दिया था। इन सेवाओं के बावजूद भी उस बूढ़े तथा अनुभवी पदाधिकारी को दक्षिण जाने की आज्ञा दी गई। ऊपरी तौर से तो उसे दक्षिण के विद्रोहों का दमन करने के लिये भेजा जा रहा था; किन्तु आइन-उल-मुल्क ने समझा कि यह स्थानान्तरण अवध में मेरी बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिये एक कूटनीतिक चाल है। सुल्तान हठपूर्वक अपनी आज्ञाओं पर डटा रहा, इसलिये सूबेदार को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी बाध्य होकर विद्रोह का सहारा लेना पड़ा। किन्तु विद्रोह का किसी प्रकार दमन कर दिया गया, आइन-उल-मुल्क के अधीन सभी लोगों को फाँसी दे दी गई, किन्तु स्वयं उसे सुल्तान ने क्षमा कर दिया और दिल्ली के राजकीय उद्यानों का रक्षक नियुक्त किया।

सिन्ध—सिन्ध में लूटमार का ज़ोर बढ़ रहा था और उससे भारी संकट के उपस्थित होने की आशंका थी, इसलिये १३४२ ई० में सुल्तान को उसका दमन करने के लिये जाना पड़ा। उपद्रवकारियों को बन्दी बनाकर इस्लाम अंगीकार करने पर बाध्य किया गया। फिर भी मुहम्मद की कठिनाइयों का अन्त नहीं हुआ। स्वयं हिन्दुस्तान में दुर्भिक्ष, महामारी, विद्रोह तथा लूटमार फैले हुए एक दशक से अधिक हो चुका था और उसके परिणामस्वरूप साम्राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी थी तथा पूर्वी प्रान्त हाथ से निकल गये थे। जब उत्तर में शान्ति और व्यवस्था के कुछ लक्षण दीख पड़े, उसी समय साम्राज्य के दक्षिणी भागों में विद्रोह की ज्वाला फूट पड़ी।

दक्षिणी भारत—दक्खिन तथा दक्षिणी भारत पर नियंत्रण रखना सदैव

कठिन रहा था, अराजकता के इस काल में उन भागों के शान्त रहने की आशा नहीं की जा सकती थी। १३३५ ई० में मदुरा में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हो चुकी थी। दूसरे वर्ष (१३३६ ई०) विजयनगर की स्थापना हुई, जो मध्ययुगीन भारत का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यपूर्ण हिन्दू साम्राज्य सिद्ध हुआ। प्रतापरुद्र काकतीय के पुत्र कृष्णनायक ने १३४३ ई० में एक विद्रोह का संगठन किया। मलिक काफूर के दिल्ली लौटने के बाद, वीर बल्लाल तृतीय जब तक (१३१२-४२ ई०) जीवित रहा, उसने दक्षिणी भारत के बढ़ते हुए आन्दोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया। उसका पुत्र बल्लाल चतुर्थ कृष्ण-नायक से जा मिला, वारंगल पर हिन्दुओं का पुन. अधिकार हो गया और मुसल-मान सूबेदार इमाद-उल-मुल्क ने भाग कर दौलताबाद में शरण ली। फरिश्ता के शब्दों में, 'वैलालदेव तथा कृष्ण नाइक ने अपनी सेनाएँ सम्मिलित कर लीं और माबर तथा द्वारसमुद्र को मुसलमानों के चंगुल से मुक्त कर लिया। साम्राज्य के सभी भागों में युद्ध तथा विद्रोहों की लपटें धधकने लगी और दूरस्थ प्रान्तों में से गुजरात तथा देवगिरि को छोड़ कर कुछ भी सुलतान के अधिकार में न रहा।'

दक्खिन—गुजरात तथा देवगिरि में विपत्तियों की आग तेज़ी से सुलग रही थी। दौलताबाद के सूबेदार कुतलग़खाँ का शासन बहुत पहले ही आवश्य-कता से अधिक मृदु सिद्ध हो चुका था। उसके अधीनस्थ पदाधिकारियों ने राजस्व का बहुत सा अंश ग़बन कर लिया था। मुहम्मद ने उसके स्थान पर आइन-उल-मुल्क को नियुक्त करने का प्रयत्न किया किन्तु जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, आइन-उल-मुल्क के विद्रोह के कारण उसका यह प्रयत्न विफल हुआ। किन्तु परिस्थिति इतनी बिगड़ रही थी कि उसकी ओर शीघ्र ही ध्यान देना आवश्यक था। सुलतान ने कुतलगखाँ को सम्मानपूर्वक वापिस बुला लिया और उसके भाई आलिम उल-मुल्क को अस्थायी रूप से देवगिरि का भार सौंपा तथा उसकी सहा-यता के लिये चार प्रादेशिक पदाधिकारी नियुक्त किये। किन्तु औषधि रोग से भी अधिक बुरी सिद्ध हुई। फरिश्ता लिखता है, 'कुतलगखाँ के हटाये जाने तथा नये शासक की अयोग्यता के कारण लोगों में बहुत असन्तोष फैला और चारों ओर उन्होंने विद्रोह खड़े कर दिये जिसके परिणामस्वरूप समस्त देश नष्ट भ्रष्ट तथा ऊजड़ हो गया।'

मालवा—मुहम्मद तुग़लक ने अज़ीज़ खुम्मार नामक एक अयोग्य कलाल के पुत्र को मालवा तथा धार का सूबेदार नियुक्त किया था। उसने अपने प्रान्त के अमीरों तथा सरदारों के साथ ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया कि बाध्य होकर उन्हें विद्रोह करना पड़ा। क्रोधोन्मत्त सूबेदार ने अस्सी विद्रोहियों को पकड़वाकर अपने महल के सामने उनके सिर कटवा लिये जिससे दूसरों के लिये वे उदाहरण बन सकें। उसके इस अत्याचार से लोगों में इतना आतंक फैला कि देवगिरि तथा गुजरात के निकटवर्ती प्रान्तों में इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। घृणास्पद अज़ीज़ विद्रोहों की लपटों से घिर गया और अन्त में उसे कुत्ते की मौत मरना पड़ा।

बंगाल की जनता से अपने शाहंशाह दिल्ली सुल्तान की भक्तिपूर्वक सहायता करने को कहा गया और वचन दिया गया कि उसके बदले में उसे सब प्रकार की रियायतें दी जायेंगी, फिर कहा गया, 'चूँकि हमारे शुभ कानों तक यह समाचार पहुँच चुका है कि इलियास हाजी लखनौती तथा तिरहुत की जनता पर अन्याय तथा अत्याचार कर रहा है, व्यर्थ में रक्तपात कर रहा है, और स्त्रियों का रक्त बहाने से भी नहीं चूकता यद्यपि सभी धर्मों और सिद्धान्तों का यह सुमस्थापित नियम है कि किसी स्त्री का, चाहे वह काफिर ही क्यों न हो, वध न किया जाय। और चूँकि इलियास हाजी अनुचित कर वसूल कर रहा है जिनका इस्लामी कानूनों में विधान नहीं है और इस प्रकार वह जनता को कष्ट पहुँचा रहा है; ऐसी स्थिति में न जीवन और सम्पत्ति ही सुरक्षित हैं और न सम्मान तथा सतीत्व।......और चूँकि वह मर्यादा का उल्लघन कर गया है और खुले रूप से हमारी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया है, इसलिये हम इस राज्य को मुक्त करने तथा यहाँ की जनता को सुखी बनाने के उद्देश्य से एक विशाल सेना लेकर चढ़ आये हैं और हमारी इच्छा है कि सब लोगों को उसके अत्याचारों से मुक्ति मिले, उसके उत्पीड़न से उत्पन्न घाव हमारे न्याय और दया के मरहम से भर जाँय और उसके अत्याचार तथा उत्पीडन की गरम तथा नाशकारी वायु से झुलसा हुआ उनका जीवन-वृक्ष हमारी दयालुता के शीतल जल से फिर फलने फूलने लगे।'

इसके पश्चात् सुल्तान ने युद्ध क्षेत्र में सैनिक विजय प्राप्त की और शत्रु को इकदला के गढ़ में शरण लेने पर बाध्य किया, किन्तु जब दयार्द्र सुल्तान ने दीवालों के भीतर करुण क्रन्दन करती हुई स्त्रियों का चीत्कार सुना तो किले को हस्तगत करने का अन्तिम कार्य उससे न हो सका। 'धावा करके किले पर अधिकार करना और अधिक मुसलमानों को तलवार के घाट उतारना तथा स्त्रियों के सम्मान और सतीत्व का अपहरण करना ऐसा भयकर पाप होगा कि कयामत के दिन वह उसका उत्तर न दे सकेगा और न उसमें तथा मुग़लों में कुछ भेद ही रह जायगा।' इसलिये उस प्रान्त को छोड़ कर १३५४ ई० में वह राजधानी को लौट गया।

किन्तु १३५९ ई० में पूर्वी बंगाल के प्रथम स्वतन्त्र मुस्लिम शासक फखरुद्दीन के दामाद जफर खाँ के प्रार्थना करने पर फिर एक बार बंगाल में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता अनुभव हुई। शाही सेना जिसमें ७०,००० अश्वारोही, ४०० हाथी तथा भारी सख्या में पैदल सम्मिलित थे, नावों में बैठकर गंगा द्वारा पूर्व की ओर चल पड़ी। मार्ग में फीरोज़ ने अपने स्वर्गीय चचेरे भाई की स्मृति में जौनपुर (जूनापुर) नगर की स्थापना की। पहले की भाँति इस बार भी इकदला के किले को घेर लिया गया और अन्त में बहुत दबाव पड़ने के कारण शम्सुद्दीन के उत्तराधिकारी सिकन्दर ने सोनारगाँव जफरखाँ को देना स्वीकार कर लिया। निःसन्देह फीरोज की यह विजय थी किन्तु उसके कृपाकांक्षी जफरखाँ ने सोनारगाँव पर शासन करने के कठिन कार्य की अपेक्षा दिल्ली में शाही दरबार के सुखमय जीवन को अधिक पसन्द किया और सोनारगाँव को त्याग दिया।

उड़ीसा—फीरोज़ तुरन्त ही दिल्ली को नहीं लौटा। उसने जाजनगर (आधुनिक उड़ीसा) पर आक्रमण किया, उस प्रान्त की उपज से अपनी सेना को खूब खिलाया-पिलाया, जगन्नाथ (पुरी) के मन्दिर को जो पूर्व में सोमनाथ का प्रतिरूप था, नष्ट कर दिया और महमूद ग़ज़नी की भाँति १३६० ई० में अपनी राजधानी को लौट गया, मार्ग में जाजनगर के राइ तथा कुछ अन्य हिन्दू सामन्तों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

नगरकोट—मुहम्मद तुग़लक ने १३३७ ई० में हिमालय पर आक्रमण करते समय नगरकोट के दुर्ग को विजय कर लिया था। इसके प्रसिद्ध ज्वालामुखी मन्दिर को भी 'बुतशिकन' ने १००८-९ ई० में लूटा था। वहाँ के हिन्दू राजा ने आस-पास के प्रदेश में लूटमार आरम्भ कर दी थी, इसलिये फीरोज को उधर ध्यान देना पड़ा। सुल्तान दौलताबाद का दमन करने के लिये कूच कर चुका था, उसी समय मार्ग में उसने नगरकोट के राजा की कार्यवाहियों का समाचार सुना और १३६०-६१ ई० में उधर को मुड़ गया। छः महीने तक किले का घेरा चलता रहा, अन्त में राजा ने समर्पण कर दिया और सुल्तान ने उसे क्षमा करके अपने पद पर रहने दिया। फीरोज का ध्यान मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान कुछ संस्कृत ग्रन्थों की ओर गया और उसने फारसी में उनका अनुवाद करवा डाला।

सिन्ध—मुहम्मद की मृत्यु के समय शाही सेना को सिन्धियों के हाथों बहुत कष्ट भोगने थे, उनका बदला लेने का फीरोज़ बहुत पहले से विचार कर रहा था १३६२-६३ ई० में उसने इस उद्देश्य से थट्टा पर आक्रमण किया। आक्रमणकारी सेना में हाथियों तथा बहुसंख्यक पैदलों के अतिरिक्त ९०,००० घुड़सवार सम्मिलित थे किन्तु रसद की कमी के कारण इस विशाल सेना को कुछ समय के लिये गुजरात की ओर मुड़ना पड़ा। वहाँ से मार्ग-दर्शकों के विश्वासघात के कारण कच्छ के रन में चले गये और दलदल में डूबने से बाल बाल बच गये। दुर्भिक्ष के कारण शाही सेना की बहुत बड़ी संख्या नष्ट हो गई और छ महीने तक उसका कोई समाचार नहीं मिला। किन्तु अन्त में वह किसी प्रकार निकलकर गुजरात के उर्वरा मैदानों में पहुँच गई। फीरोज़ ने सैनिकों तथा रसद की कमी पूरी की और गुजरात के दफ्पढ सूबेदार को पदच्युत करके सिन्ध की ओर लौटा। भगोड़े पकड़ लिये गये और सुल्तान ने उन्हें फाँसी न देकर कठघरों में जकड़वा कर यातनाएँ दिलवाईं। जिन सैनिकों के पास साज-सज्जा की कमी थी उन्हें बहुत सा भत्ता दिया गया जिससे वे अपनी कमी पूरी कर लें। कुमुक के लिये दिल्ली आज्ञा भेजी गई और महान् वजीर खान जहाँ मकबूल के प्रयत्नों के फलस्वरूप बदायूँ, कन्नौज, जौनपुर, बिहार, तिरहुत, चन्देरी, धार आदि साम्राज्य के सभी भागों से सुल्तान के पास सैनिक दल एकत्र हो गये। शाही सेना की संख्या सिन्धियों से कहीं अधिक होगई, इसलिये आतंकित होकर उन्होंने समर्पण कर दिया। विजयी सुल्तान ने जाम बावनिया के स्थान पर उसके

बड़े-बड़े मुस्लिम जागीरदारों के विद्रोहों ने उसे निरन्तर तंग किया और चैन नहीं लेने दिया। उसने गुलामों की विशाल सेना पर अपना क्रोध उतारा, उनमें से अनेक का बध करवा दिया और शेष को अन्य तरीकों से पीड़ित किया अथवा निर्वासित कर दिया। किन्तु उपद्रवी तत्व निरन्तर कार्य करते रहे। मुहम्मद का उत्तराधिकारी हुमायूँ यद्यपि उसने अपने को सिकन्दरशाह की उपाधि से विभूषित किया था, राज्यारोहण के छः महीने के भीतर ही चल बसा और उसका भाई महमूद सिंहासन पर बैठा। महमूद का प्रतिद्वन्दी उसका चचेरा भाई नसरत शाह था, दोनों ने अपने-अपने स्वतन्त्र दरबार स्थापित कर लिये—पहले ने पुरानी दिल्ली में और दूसरे ने नई राजधानी फीरोज़ाबाद में। दोनों नाममात्र के लिये सुल्तान थे और अपने कुचक्री अमीरों के हाथों के खिलौने तथा कठपुतलियाँ बने रहे।

तिमूर का आक्रमण

"जब तिमूर एक एक हजार घुड़सवारों के बानवे दल लेकर भारत पर चढ़ आया, उस समय दिल्ली सल्तनत की यह अराजकतापूर्ण दशा थी। इस महान् विजेता के जीवन का वर्णन हमें प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन के पृष्ठों से उपलब्ध होता है। इससे पहले कि भारत की सम्पत्ति ने उसे आकृष्ट किया तथा मध्य एशियाई आक्रमणकारियों के अनिवार्य मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया, वह पश्चिम में ईरान तथा एशिया माइनर (लघु एशिया) में स्थित ओटोमन साम्राज्य की सीमाओं तक मैसोपोटामियाँ को और पूर्व में अफगानिस्तान को पदाक्रान्त कर चुका था।" भारत के शक्ति क्षीण करनेवाले जलवायु के कारण पहले तो तिमूर के उग्र अनुयायियों को हिचकिचाहट हुई, किन्तु जब उनकी धार्मिक कट्टरता को उभाड़ा गया तो वे उत्साह से भर गये। तिमूर ने कहा, "भारत पर आक्रमण करने का मेरा उद्देश्य है काफिरों के विरुद्ध युद्ध करना, पैगम्बर (ईश्वर उस पर अपनी दयावृष्टि करे) की आज्ञानुसार उन्हें सच्चा धर्म (इस्लाम) स्वीकार करने पर बाध्य करना, देश को बहुदेववाद तथा अन्धविश्वास से मुक्त करके पवित्र करना तथा मन्दिरों और मूर्तियों का उन्मूलन करना जिससे हम धर्म तथा ईश्वर के समर्थक और सैनिक बनकर गाज़ी तथा मुजाहिद का पद प्राप्त करेंगे।"

तिमूर के नाशकारी आक्रमण की दुखद कहानी बहुधा करुणापूर्ण शब्दों में वर्णित की गई है, असुर (Assyrian) आक्रमणकारी की भाँति वह भी भारत पर चढ़ बैठा, जैसे भेड़िया भेड़ों के झुंड को धर दबाता है, दिल्ली तक पंजाब प्रान्त को उसने उजाड़ दिया, मार्ग में वह अटक, मुल्तान, दिपालपुर, भटनेर, सिरसुती आदि स्थानों में होकर गुजरा और अपने पीछे अराजकता, दुर्भिक्ष तथा महामारी छोड़ता गया। इस बीच में उसने इतने गुलाम पकड़े कि उसकी समझ में न आता कि क्या करूँ।

सरवर ने वध कर दिया। इस युग की अराजकता का तत्कालीन इतिहासकार याहिया-बिन-अहमद ने अपनी पुस्तक 'तारीखे मुबारक शाही' में भलीभाँति वर्णन किया है। सरवर ने अपने दूसरे स्वामी सुल्तान मुहम्मद की भी हत्या का प्रयत्न किया किन्तु उससे पहले ही उसके प्रतिद्वन्दियों ने उसे मार डाला। उसके बाद कमाल-उल-मुल्क वज़ीर हुआ। कहा जाता है कि वह "राजकीय कार्यों में खूब निपुण था", उसने शासन-व्यवस्था की पुन: स्थापना करने का प्रयत्न किया किन्तु अराजकता के तत्व इतने शक्तिशाली सिद्ध हुए कि उसे सफलता न मिली। ग्वालियर ने कर देना बन्द कर दिया, जौनपुर के इब्राहीम शर्की ने दिल्ली के कई परगने छीन लिये, मालवा का सुल्तान महमूद खलजी राजधानी तक बढ़ आया किन्तु स्वयं उसके राज्य पर गुजरात के अहमदशाह के आक्रमण का भय उपस्थित हो गया इसलिये उसे लौटना पड़ा। इस दशा में, जैसा कि एक इतिहासकार ने लिखा है, यह आश्चर्य की बात नहीं थी कि 'राज-काज दिन-प्रतिदिन और भी अधिक अस्त-व्यस्त होता गया—और यहाँ तक नौबत आ गई कि दिल्ली से बीस कोस की दूरी पर ऐसे अमीर थे जिन्होंने सुल्तान के प्रभुत्व का जुआ उतार फेंका और प्रतिरोध की तैयारियाँ करने लगे।' ऐसी ही परिस्थितियों में लाहौर तथा सरहिन्द के महत्वाकांक्षी अफगान सूबेदार ने सुल्तान मुहम्मद के दुर्बल उत्तराधिकारी अलाउद्दीन आलमशाह को अपदस्थ करके राजशक्ति पर अधिकार कर लिया और आलमशाह, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, आराम और अकर्मण्यता का... बिताने के लिये बदायूँ को चला गया और वहीं १४७८ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

लोदियों की सफलतायें और विफलतायें

१४५१ ई० में जिस समय बहलोल सिंहासन पर बैठा उस समय तक पूर्व में बंगाल तथा जौनपुर और सिन्ध, गुजरात, मालवा तथा दक्खिन दिल्ली साम्राज्य से अलग हो चुके थे। लोदी सुल्तान के अधिकार में केवल उत्तर में लाहौर से दिपालपुर तक तथा दक्षिण में सरहिन्द से हाँसी, हिसार, पानीपत तथा दिल्ली तक पंजाब का भाग रह गया था। इसके उस पार राजधानी से पन्द्रह मील की दूरी तक अहमद खाँ मेवाती का राज्य था, दिल्ली के लगभग बाहरी छोर तक फैले हुए सम्भल पर दरिया खाँ लोदी शासन करता था और दोआब अनेक स्वतन्त्र हिन्दू तथा मुसलमान सामन्तों में बटा हुआ था। किन्तु बहलोल ने दृढ़ता तथा तत्परता के साथ कार्य किया और अपनी मृत्यु (१४८८ ई०) पहले मेवाड़, सिन्ध, दोआब के बहुत से भाग तथा जौनपुर के शर्की राज्य दमन करने में सफल हुआ। जौनपुर राज्य ने उसे अत्यधिक कष्ट दिया। ... उत्तरोत्तर तीन सुल्तानों—महमदशाह, महम्मद तथा हुसैन खाँ—ने ...

नगर की नींव डाली, उसके समय में एक तत्कालीन इतिहासकार लिखता है, "सभी पर्यटकों का मत है कि संसार भर में इतना सुन्दर, आकर्षक तथा ऐश्वर्यपूर्ण नगर और कोई नहीं है।"

किन्तु जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, सुल्तान महमूद बेगढ़ा जो तेरह वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा और जिसने बावन वर्ष तक (१४५९-१५११ ई०) शासन किया, इस वंश का सबसे अधिक विख्यात शासक हुआ। प्रारम्भ से ही उसने किसी संरक्षक अथवा अभिभावक की सहायता नहीं ली। इटली के पर्यटक लुडोविको दि वर्थीमा ने उसके सम्बन्ध में अनेक रोचक कहानियों का प्रचार कर दिया था। उदाहरण के लिये, वह प्रतिदिन एक मन भोजन करता था और उसके शरीर में इतना विष व्याप्त था कि मक्खियाँ उस पर बैठते ही मरकर गिर जाती थीं।

उसने चम्पानेर तथा जूनागढ़ के दो किलों पर अधिकार कर लिया और इसीलिये बेगढ़ा कहलाया। कच्छ को भी उसने पदाक्रान्त किया और अहमदनगर के विरुद्ध भी विजय प्राप्त की। उसका शासन काल इसलिये भी स्मरणीय है कि उसमें प्रथमबार ईसाइयों तथा मुसलमानों में टक्कर हुई। उसने टर्की के औटोमन सुल्तान से मिलकर पुर्तगालियों को भारतीय समुद्रों से मार भगाने का प्रयत्न किया। जबसे वास्कोडिगामा ने १४९८ ई० में मालावार तट का पता लगाया था तब से पुर्तगाली सामुद्रिक डाकू भारतीय जहाजों को सदैव क्षति पहुँचाते आये थे। गुजरात तथा टर्की के जहाजी बेड़ों ने मिलकर १५०८ ई० में काठियावाड़ के तट के निकट ड्यू के द्वीप के पास पुर्तगा-लियों से सामुद्रिक युद्ध किया। भारतीय इतिहास में यह पहला अवसर था जब कि ईसाइयों की पराजय हुई। युद्ध दो दिन तक चला और उसमें डी अल्मीडा का पुत्र मारा गया। उसका जहाज चारों ओर से घिर गया। युद्ध आरम्भ होते ही तोप के गोले से उसकी टाँग टूट गई फिर भी वह मुख्य मस्तूल के नीचे कुर्सी पर बैठकर पहले की भाँति शान्तिपूर्वक आज्ञा देता रहा। थोड़ी देर उपरान्त एक गोला उसकी छाती में लगा और कैमियन्स के शब्दों में वह वीर युवक जिसकी अवस्था उस समय २१ वर्ष की भी नहीं थी और जिसने कभी यह भी न जाना था कि समर्पण शब्द का क्या अर्थ है, वीरगति को प्राप्त हुआ। दूसरे वर्ष (२ फरवरी १५०९ ई०) उसके पिता ने उसकी मृत्यु का बदला ले लिया और एक वर्ष उपरान्त महमूद ने ड्यू का द्वीप गोआ के विजेता अलबुकर्क के सुपुर्द कर दिया। १५१३ ई० में एक नई शक्ति के प्रतीकस्वरूप द्वीप में एक पुर्तगाली व्यापारी कोठी की स्थापना हुई।

फिर भी जैसा कि मुस्लिम इतिहासकार लिखता है महमूद बेगढ़ा ने—

'गुजरात राज्य के प्रताप तथा ऐश्वर्य में वृद्धि की, वह अपने से पहले तथा बाद के सभी सुल्तानों में श्रेष्ठ था और वह न्याय तथा उदारता में धार्मिक युद्ध में सफलता

और इस्लाम तथा मुसलमानों के नियमों के प्रचार में, ठोस निर्णय बुद्धि में, बाल्यकाल, यौवन तथा वृद्धावस्था में, शक्ति, पराक्रम तथा विजय सभी बातों में श्रेष्ठता का आदर्श था।'

(४) मालवा—मालवा के इतिहास का गुजरात, मेवाड़, खानदेश तथा दक्खिन के इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपनी स्थिति के कारण उसे इन सबसे उलझना पड़ा। मालवा पर एक के बाद एक दो मुस्लिम राजवंशों ने शासन किया—गोरी ने १४०१ से, और खलजी ने १४३६ ई० से १५३१ ई० तक, जब कि गुजरात ने उसे आत्मसात कर लिया। धार का प्राचीन हिन्दू नगर इस राज्य की राजधानी था, आगे चलकर पितृघाती हुशांग ने जिसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं, माण्डू को अपनी राजधानी बनाया और वहाँ अनेक वैभवशाली नगरों का निर्माण किया। यह दुर्ग-रक्षित नगर एक ऊँची पहाड़ी पर बना हुआ था, उसकी रक्षा-दीवाल की लम्बाई लगभग २५ मील थी, अब उसके केवल भग्नावशेष पड़े हुये हैं, फिर भी वह आज तक सुन्दर जामी मस्जिद, हिंडोला महाल, जहाज महाल, हुशांग का मकबरा, 'रोमान्टिक' बाजबहादुर तथा रूपमती के महल तथा लाल पत्थर और संगमरमर के अन्य सुन्दर भवनों के लिये विख्यात है। हुशांग का निकम्मा पुत्र महमूद मालवा गोरी राजवंश का तीसरा तथा अन्तिम शासक था। १४३६ ई० में उसे विष देकर मार डाला गया और महमूद खाँ खलजी ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। महमूद ने ३३ वर्ष (१४३६–६९ ई०) राज्य किया और अपना अधिकतर समय अपने बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं और प्रतिद्वन्द्वियों से लड़ने में बिताया। 'शायद ही कोई ऐसा वर्ष बीता हो जब कि वह युद्ध-क्षेत्र में न उतरा हो। इसलिये उसका शिविर उसका घर तथा युद्ध-भूमि उसका विश्राम-गृह बन गई।' हमें यह भी पता लगता है कि सुल्तान महमूद नम्र, वीर, न्यायप्रिय तथा विद्वान था और उसके शासनकाल में उसके हिन्दू तथा मुसलमान सभी प्रजा जन सुखी थे और एक दूसरे के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करते थे।···—···अपने अवकाश के समय में वह पृथ्वी के विभिन्न दरबारों तथा राजाओं के वर्णन तथा इतिहास पढ़वा कर सुनता था।

महमूद के दो वीरतापूर्ण कार्य अधिक उल्लेखनीय हैं (१) १४४० ई० में अपनी महत्वाकांक्षा के वशीभूत होकर उसने अपहरणकर्ता बहलोल लोदी को हटाकर अपने को सुल्तान घोषित करने के उद्देश्य से दिल्ली की ओर प्रस्थान किया किन्तु बहलोल उससे भिड़ने के लिये आगे बढ़ा, उधर मालवा पर भी सङ्कट के बादल मड़राने लगे, इसलिये शीघ्र ही महमूद अपनी राजधानी को लौटने पर बाध्य हुआ। (२) मेवाड़ के राणा कुम्भा ने गोरियों को, जिन्हें महमूद ने मालवा से मार भगाया था, सहायता दी थी, इसके अतिरिक्त राणा के मालवा की सीमाओं के भीतर रहनेवाले राजपूत सामन्तों से सम्बन्ध थे; इन्हीं कारणों से महमूद को कुम्भा से टक्कर लेनी पड़ी। १२५५ ई० उसने राणा

स्त्रैण विलासिता के कारण कर्मण्यता, महत्वाकांक्षाओं तथा सभी पुरुषोचित चीजों का नाश। यहाँ पर इन नीरस ब्यौरे की बातों का वर्णन करना निरर्थक होगा, हमें थोड़े से ऐसे तथ्यों से ही सन्तोष कर लेना चाहिए जिनसे बहमनी सुल्तानों के इतिहास की विशेषतायें स्पष्ट हो जायें।

फरिश्ता ने बहमनी नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस दन्तकथा का उल्लेख किया है उसकी समीक्षा करना अनावश्यक है। स्कूलों के विद्यार्थी भी इस कहानी से परिचित हैं कि हसन गंगू ने अपने ब्राह्मण स्वामी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये अपने वंश का नाम बहमनी (ब्राह्मणी) रक्खा। किन्तु 'बुरहाने-मआसीर' में स्पष्ट लिखा है कि 'अपने वंश के कारण सुल्तान बहमन कहलाता था' और सिक्कों तथा उत्कीर्ण लेखों से भी लोकप्रिय दन्तकथा की पुष्टि नहीं होती। जैसा कि स्मिथ ने लिखा है हसन "क्रूर तथा धर्मान्ध मुसलमान था और किसी भी दशा में वह अपने को ब्राह्मण नहीं कह सकता था।" जिन परिस्थितियों में हसन कंगू ने १३४७ ई० में बहमनी राज्य की नींव डाली उनका हम पहले ही वर्णन कर आये हैं। मुहम्मद तुग़लक के शासन के अराजकता के काल में दक्खिन के अफगान अमीरों ने इस्माइल मख नामक एक व्यक्ति को दौलताबाद में सिंहासन पर बिठला दिया। मख ने स्वतः अपने से अधिक योग्य हसन को प्रभुत्व सौंप दिया, हसन ने अलाउद्दीन बहमनशाह की उपाधि धारण की और दस वर्ष (१३४७-५८ ई०) शासन किया, उसकी राजधानी कलबुर्गी अथवा गुलबर्गा थी। शासन की सुविधा के लिये उसने राज्य को चार तरफों अथवा प्रान्तों में विभक्त कर दिया, एकता बनाये रखने के लिये वह स्वयं उनका दौरा किया करता था। उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह प्रथम (१३५८-७३ ई०) हुआ, वह जितना इस्लाम का योद्धा था उतना योग्य शासक नहीं था। आन्तरिक शासन उसके पिता का मंत्री चलाता रहा (कहा जाता है कि वह छठे शासक के समय तक अथवा सौ वर्ष से कुछ अधिक जीवित रहा) और वह स्वयं युद्धों में व्यस्त रहा। उसके शासन-काल में तैलिंगाना तथा विजयनगर के विरुद्ध युद्धों की वह परम्परा आरम्भ हुई जो बहमनी राज्य के पतन के बाद भी चलती रही और उसके उत्तराधिकारी राज्यों को विरासत के रूप में मिली। विजयनगर तथा बहमनी राज्यों के बीच संघर्ष का मुख्य कारण रायचूर का समृद्धिशाली दोआब था जिसको अधिकृत करने के लिये वे दोनों शक्तियाँ वैसे ही लड़ती रहीं जैसे राइनलैंड के लिये फ्रान्स तथा जरमनी। मुहम्मद को वारंगल के हिन्दू राजा से गोलकुण्डा छीन लेने तथा कुछ समय के लिये विजयनगर के बुक्काराय प्रथम के विरुद्ध विजय प्राप्त करने में सफलता मिली। फरिश्ता लिखता है कि अपने पन्द्रह वर्ष के शासन-काल में मुहम्मदशाह ने ५००,००० हिन्दुओं का बध किया।

उसके बाद मुजाहिदशाह सिंहासन पर बैठा किन्तु पाँच वर्ष के भीतर ही उसके चाचा ने उसका बध कर दिया (१३७७ ई०), तब मुहम्मदशाह द्वितीय जो मुहम्मदशाह प्रथम का सबसे छोटा भाई था, सुल्तान हुआ। कविता तथा दर्शन

में उसकी विशेष रुचि थी इसीलिये वह द्वितीय अरस्तू के नाम से विख्यात हुआ, १३६७ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसी वर्ष उसके दो पुत्र ग़ियासुद्दीन तथा शम्सुद्दीन सिंहासन पर बैठे तथा उतार दिये गये, दोनों को अन्धा करके कारागार में डाल दिया गया।

इस वंश के आठवें सुल्तान फीरोजशाह ने १३६७ से १४२२ ई० तक राज्य किया। फरिश्ता के मूल्यांकन के अनुसार इस शासक के समय में बहमनशाह का वंश ऐश्वर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसके शासन काल में दक्खिन में एक नाशकारी दुर्भिक्ष पड़ा जो लगभग दस वर्ष तक चलता रहा, फिर भी वारंगल तथा विजयनगर के विरुद्ध युद्ध जारी रहे जिनके परिणामस्वरूप पांगल का किला हस्तगत कर लिया गया और एक ओर बहमनी राज्य की सीमाएँ गोदावरी के मुहाने पर स्थित राजमहेन्द्री तक पहुँच गईं तथा दूसरी ओर राजकुमार बुक्का का वध कर दिया गया और उसके पिता हरिहर द्वितीय से ४००,००० पौ० युद्ध-क्षति-पूर्ति के रूप में वसूल किया गया। फीरोज़शाह बहमनी का शेष समय गुलबर्गा तथा भीमा पर स्थित फीरोजाबाद आदि नगरों में सुन्दर भवनों के निर्माण में बीता, उसके रनिवास में संसार के सभी देशों की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियाँ एकत्र थीं। विजयनगर से उसका युद्ध सुनार-पुत्री के युद्ध के नाम से विख्यात है। विजयनगर का राय बहमनी राज्य में स्थित मुदगल के एक सुनार की पुत्री पर मोहित हो गया और उसे प्राप्त करने के लिये उस स्थान पर धावा कर दिया। फीरोज ने वीरतापूर्वक बदला लिया और राय को परास्त करके स्वयं उसकी एक पुत्री का विवाह अपने पुत्र हसनखाँ के साथ कर दिया।

किन्तु हसनखाँ को सुनार का दामाद होने से ही सन्तोष करना पड़ा क्योंकि सिंहासन पर उसके चाचा अहमदखाँ ने अधिकार कर लिया और तेरह वर्ष शासन किया (१४२२–३५ ई०)। उसके समय में विजयनगर तथा वारंगल के विरुद्ध नई विजयें प्राप्त हुईं। विजयनगर के प्रदेशों को लूटा तथा उजाड़ा गया, वारंगल का हिन्दू राजा युद्ध में मारा गया और उसका राज्य बहमनी सल्तनत में मिला लिया गया (१४२५ ई०)। कोंकण, मालवा और गुजरात के विरुद्ध भी अनिर्णायक युद्ध लड़े गये। अहमद के युद्धों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह थी कि कूच के दौरान में जब २०,००० बन्दी एकत्र हो जाते तो उनका वध करने के लिये वह एक उत्सव-सा मनाता और स्त्रियों तथा बच्चों को भी न छोड़ता, यद्यपि मुहम्मद प्रथम का विजयनगर से यह करार हो चुका था कि युद्ध में भाग न लेने वालों पर हाथ नहीं उठाया जायगा। अहमद का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था राजधानी को गुलबर्गा से उठाकर बीदर ले जाना, बीदर उत्तर-पूर्व की ओर ६० मील की दूरी पर स्थित था और जलवायु तथा सामरिक दृष्टि से भी उसका अधिक महत्व था।

अहमद के पुत्र तथा उत्तराधिकारी अलाउद्दीन द्वितीय ने २२ वर्ष (१४३५–

अपने स्वामियों की पैंतीस वर्ष तक सेवा की थी और प्रसन्नतापूर्वक यह कहते हुए प्राण दे दिये, "ईश्वर की जय हो क्योंकि उसने मुझे शहीद होने का अवसर दिया है।" उसने दक्खिनियों तथा विदेशियों के बीच के घातक संघर्ष को शान्त करने का ईमानदारी से प्रयत्न किया था और अपनी सम्पूर्ण आय दान में व्यय कर दी थी। यद्यपि उसके अधिकतर समसामयिकों की भाँति हिन्दुओं के प्रति उसका भी व्यवहार धर्मान्धतापूर्ण था किन्तु उसने सच्चे मुसलमान का जीवन बिताया, वह एक सादा चटाई पर सोता, मिट्टी के बर्तनों में भोजन करता और अपना समय बीदर में अपनी तीन हजार पुस्तकों के बीच बिताता। "राज्य का कोई ऐसा विभाग न था जिसकी ओर उसने ध्यान न दिया हो, उसने वित्त विभाग का पुनः संगठन किया, न्याय-प्रशासन में सुधार किया, सार्वजनिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया और राजस्व व्यवस्था को उचित तथा न्यायपूर्ण बनाने के लिये गाँवों की भूमि की पड़ताल करवाई। भ्रष्टाचार का दमन किया गया और जिन्होंने सरकारी रुपया गबन किया था, उनको यथोचित दण्ड दिया गया। सेना में भी सुधार किये गये, पहले से अच्छा अनुशासन कायम किया गया और सैनिकों को उन्नति करने का अवसर दिया गया।" मीडोज़ टेलर ने उचित ही कहा है कि गावाँ का वध नाश का प्रारम्भ था, 'उसके उठ जाने से बहमनी राज्य की एकता तथा शक्ति तिरोहित हो गई।'

पाँच राज्य

मुहम्मदशाह तृतीय के उत्तराधिकारियों के समय में बहमनी सल्तनत पाँच राज्यों में विभक्त हो गई—(१) बरार का अहमदशाही, (२) बीजापुर का आदिलशाही, (३) अहमदनगर का निजामशाही, (४) गोलकुण्डा का कुतुबशाही तथा (५) बीदर का बरीदशाही। जिस राज्य की पूर्वोक्त दशा थी उसका इससे भिन्न अन्त हो भी नहीं सकता था। अथनसियस निकीटीन नामक एक रूसी व्यापारी ने १४७० और १४७४ के बीच बहमनी राज्य का पर्यटन किया, उसने लिखा है कि सुल्तान 'अमीरों के प्रभाव में है', एक ईरानी अमीर जो उच्च कोटि का व्यापारी था, २०,००० सैनिकों की एक फौज रखता था, 'मलिक के पास १००,०००; खरतखाँ के पास २०,००० सेना है और अनेक ऐसे खान हैं जिनके अधिकार में दस-दस हजार सैनिक हैं।' ऐसे सामन्तों के बीच में यद्यपि सुल्तान ३००,००० निजी सैनिक लेकर चलता था किन्तु उनमें 'सुनहरी कवचों से विभूषित २०० हाथी, १०० नर्तक, ३०० सुनहरी आवरणों से सजे सामान्य घोड़े, १०० बन्दर तथा १०० बरूख स्त्रियाँ सम्मिलित रहती थीं, ये सब विदेशी थे।' एक अन्य इतिहासकार लिखता है, "अपने राजा का अनुकरण करते हुए लोग विलासिता में लिप्त रहने के अतिरिक्त और कुछ न करते थे। सम्मानित महात्मागण मदिरालयों में अपने वस्त्र तक गिरवी रख देते और धार्मिक अध्यापक अपने विद्यालयों को छोड़ कर मदिरालयों की शरण लेते और सुरापात्रों का आनन्द लूटते।"

उपर्युक्त पाँच राज्यों में से बीजापुर तथा गोलकुण्डा सबसे अधिक शक्तिशाली थे, उनका ही इतिहास शिक्षाप्रद है, अन्यत्र हम उसका वर्णन करेंगे। यहाँ हम केवल उनके स्वतन्त्र होने की तिथियाँ लिखे देते हैं। बरार ने १४८४ ई० में, बीजापुर ने १४८९ ई० में, अहमदनगर ने १४९८ ई० में, गोलकुण्डा ने १५१८ ई० में और बीदर ने १५२६ ई० में अपनी स्वाधीनता की स्थापना की।

(३) मदुरा—जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, पाण्ड्यों का यह प्राचीन हिन्दू राज्य मुसलमानों द्वारा सर्वप्रथम मलिक काफूर की अधीनता में जीता गया था (१३११ ई०)। किन्तु इसके बाद उत्तर की घटनाओं के कारण जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है, दक्षिण भारत कुछ समय के लिये मुसलमानों के आक्रमणों से बचा रहा, अलाउद्दीन तथा उसके महान् सेनापति की मृत्यु के बाद मुबारक ने मलिक खुसरू को दक्षिण भेजा (१३१६ ई०)। बीच के इस अल्प समय में (१३११–१३१६ ई०) केरल के रविवर्मन कुलशेखर ने पाण्ड्य देश पर आक्रमण किया और पूर्वी समुद्र तट पर स्थित नीलौर तक धावा मारा। काकतीय राजा प्रताप रुद्र द्वितीय ने इस आक्रमण का बदला लिया और कावेरी में स्थित श्रीरंगम के द्वीप तक के प्रदेश को आक्रांत किया। १३१६ ई० के आक्रमण में मलिक खुसरू ने मदुरा के जिले को लूटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया, उसके बाद शीघ्र ही उसे दिल्ली बुला लिया गया। इसके बाद मावर के प्रान्त का भार एक मुस्लिम सूबेदार को सौंपा गया जिसने मुहम्मद तुग़लक के शासन काल १३३५ ई० में विद्रोह किया। यही अवसर था जब कि जलालुद्दीन अहसनशाह की अधीनता में मदुरा एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। इसके बाद मदुरा और मावर पर दिल्ली का अधिकार फिर कभी स्थापित न हो सका, यद्यपि कुछ समय के लिये उस पर मुसलमान ही शासन करते रहे। जलालुद्दीन को पाँच वर्ष बाद उसी के एक पदाधिकारी ने मार डाला और सिंहासन हड़प लिया तथा अलाउद्दीन उदौज़ी की उपाधि धारण की किन्तु एक वर्ष उपरान्त अपहरणकर्त्ता भी विलियम रूफ़ुस की भाँति किसी अज्ञात व्यक्ति के बाण से मारा गया। उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन फीरोजशाह को ग़ियासुद्दीन दामग़ानी नामक एक व्यक्ति ने सिंहासनारोहण के ४० दिन के भीतर ही मार डाला। दामग़ानी ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये। इब्नबतूता लिखता है कि इस सुलतान ने भारी संख्या में हिन्दू पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों को यातनाएँ दीं और उनका संहार किया; उसने ८० वर्ष के वीर बल्लाल तृतीय को पराजित किया, गला घोंट कर उसे मार डाला और उसकी खाल खिंचवा कर तथा उसमें भूसा भरवा कर मदुरा के फाटकों पर लटकवा दिया (१३४२ ई०)। उसके भतीजे नासिरुद्दीन महमूद ग़ाज़ी ने आतंक का राज्य कायम किया, अपने सभी सहानुभूति न रखने वाले पदाधिकारियों की हत्या कर दी और यहाँ तक कि स्वर्गीय सुलतान के दामाद को मार कर उसकी विधवा से तुरन्त ही विवाह कर लिया (१३४४ ई०)। ग्लानि के कारण इब्नबतूता उसका दरबार छोड़ कर चला गया। इस सुलतान

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

ई० सन्

१४५०–१५२६ दिल्ली में लोदियों का शासन।

१४५३ तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनियाँ की विजय।

१४५९–१५११ गुजरात का सुल्तान महमूद बेगढ़ा।

१४६३–८१ बहमनी सुल्तानों का मन्त्री महमूद गावाँ, उसकी हत्या के बाद पतन का आरम्भ।

१४८४ बरार का स्वतन्त्र होना।

१४८६ सलुव नरसिंह, विजयनगर में प्रथम अपहरण। डियाज़ द्वारा आशा अन्तरीय (केप आव गुड होप) का चक्कर लगाना।

१४८९ बीजापुर का स्वतत्र होना।

१४९२ कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज।

१४९८ कालीकट में वास्को डी गामा का उतरना।

१५०५ तुलुव नरस नायक, विजयनगर में दूसरा अपहरण। हिन्दुस्तान तथा ईरान में भूकम्प।

१५०७ गुजरात तथा पुर्तगालियों के बीच प्रथम नाविक युद्ध।

१५०९ कृष्णदेव राय का विजयनगर में, राणा साँगा का मेवाड़ में, हेनरी आठवें का इंगलैंड में राज्यारोहण।

१५१० बीजापुर में इस्माइल आदिलशाह, पुर्तगालियों ने गोआ हस्तगत कर लिया।

१५१४ बाबर काबुल का राजा।

१५१८ गोलकुण्डा का स्वतन्त्र होना।

१५१९ बाबर का भारत पर प्रथम आक्रमण।

१५२०–६६ 'ऐश्वर्यशाली' सुलैमान बगदाद से हंगेरी तक शासन करता है; विजयनगर साम्राज्य का चरमोत्कर्ष।

१५२२ पुर्तगाली पर्यटक डोमिंगोज़ पेइज़ विजयनगर में।

१५२६ पानीपत में बाबर की विजय, बीदर का स्वतन्त्र होना।

१५३५ पुर्तगाली पर्यटक नुनीज़ विजयनगर में।

८

भारत में मुस्लिम शासन का रूप

भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास दो युगों में विभक्त किया जा सकता है (१) विजय तथा शासन सम्बन्धी प्रयोगों का युग और (२) साम्राज्यीय संगठन तथा रचनात्मकता का युग। इस इतिहास में हमें एक निश्चित विकास तथा पूर्णता देखने को मिलती है, जिस पर या तो पश्चिमी लेखकों की दृष्टि ही नहीं पड़ी है अथवा उन्होंने उसकी उपेक्षा की है। यद्यपि इतिहासकार लेनपूल की सहानुभूति का क्षेत्र विस्तृत था फिर भी वे वास्तविकता को न समझ सके; उन्होंने लिखा है कि मध्यकालीन भारत का इतिहास "राजाओं, राजदरबारों और विजयों का विवरण मात्र है, न कि सामूहिक अथवा राष्ट्रीय विकास का इतिहास।" संसार में ऐसे भाग्यशाली देश बहुत कम हैं जिनमें इंगलैंड की भाँति स्वतन्त्रता की परम्पराओं का उत्तरोत्तर शताब्दियों में पीढ़ी प्रति पीढ़ी विस्तार तथा उनके कारण जातीय और राष्ट्रीय विकास हुआ हो। किन्तु इस प्रकार की तुलनाएँ भ्रम में डालने वाली होती हैं और लेनपूल का यह कथन अनुचित है कि मध्यकालीन भारत में "देश की बहुसख्यक जनता का कोई इतिहास नहीं है क्योंकि उसने कोई प्रगति नहीं की, स्पष्टतया जैसी वह कल थी वैसी ही आज है और वैसी ही सदैव। और न शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा प्रणालियों में ही कोई ऐसा उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ जैसे कि अनेक नस्लों के उत्तरोत्तर शासकों की भिन्नता के कारण आशा की जा सकती थी।" यह हो सकता है कि पूर्वीय देशों के लोग उतनी शीघ्रता, उतने वेग और उस ढंग से न बदलें जैसे कि पश्चिम की जनता किन्तु इतिहास का अधिक ध्यान से अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होगा कि ऊपरी तौर से देखने पर भी हम जैसे कल थे वैसे ही आज और वैसे ही सदैव नहीं हैं। मध्यकालीन भारत जिस प्रकार आधुनिक युग से भिन्न है, उसी प्रकार वह प्राचीन युग से भिन्न था, यही नहीं, वह उतना अधिक गतिहीन न था जितना कि उस युग का योरुप। इस अध्याय में हम देखेंगे कि देश में इस्लाम के आगमन के कारण कम से कम क्या क्या सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन हुये। लेनपूल का यह कथन अधिक सही है कि "इतिहास का प्रवाह अविच्छिन्न होता है, पूर्णतया नये सिरे से कभी प्रारम्भ नहीं होता और प्रत्येक युग में उससे पहले युग का बहुत कुछ विद्यमान रहता है।"

स्थापित रहा। १३३७ ई० में बंगाल के स्वतन्त्र हो जाने से सल्तनत का गम्भीर अंगच्छेद हो गया। मदुरा और तैलिंगाना (१३३५ ई०), दौलताबाद (१३४७ ई०) गुजरात (१३०६ ई०), खानदेश (१३६६ ई०) और मालवा (१४०१ ई०) के पृथक हो जाने से साम्राज्य पंगु होगया। एक समय ऐसा आया जब कि दिल्ली राज्य ही अत्यधिक संकुचित नहीं हो गया बल्कि राजधानी में ही दो सुलतान बन बैठे और उनमें से प्रत्येक विलुप्त साम्राज्य की अवशिष्ट छाया पर प्रभुत्व का दावा करता था। इस्लामी राजनीति में सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं किन्तु व्यवहार में अवश्य 'योग्यतम ही जीवित रहता है' इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता था, इसके अनुसार अब भारत में एक नई शक्ति के उदय का समय आ गया था। अग्रगन्ताओं (पथिकृतों) ने यथासामर्थ्य अपना कार्य—भला और बुरा—पूरा कर दिया था, उन्होंने प्रदेशों को लूटा, नष्ट-भ्रष्ट और विजय किया, लोगों को दास और मुसलमान बनाया तथा उनका संहार किया, शासन किया, साम्राज्य का विस्तार और विद्रोहों का दमन किया, भवन तथा नहरों का निर्माण कराया और समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया, विलासपूर्ण जीवन बिताया, अमानुषिक अत्याचार किये और अन्त में प्रतिशोध की देवी को आवाहन किया। जब प्रतीकार का समय आया तो वह निर्मम सिद्ध हुआ। उनकी सफलताओं और असफलताओं के कारणों की समीक्षा अन्त में करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ हम उनकी सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पर दृष्टि-पात करलें।

राजनैतिक प्रयोगवाद

अरब, तुर्क, अफगान और ईरानी सब एक ही सामाजिक व्यवस्था के अंग थे और उनकी कार्य-प्रणाली भी एक सी थी। वे अपने साथ कोई सुनिर्मित और पूर्ण व्यवस्था नहीं लाये थे; उनका दृष्टि-कोण व्यावहारिक था और जैसे परिस्थितियाँ उनके सामने आईं उन्होंने सीधे प्रयोगात्मक ढग से उनका मुकाबिला किया। इसलिये उनकी शासन-प्रणाली में उन परिस्थितियों के अनुरूप दोष भी विद्यमान थे, जिनमें उनका निर्माण हुआ था। उनकी व्यवस्था कितनी ही भद्दी और भोंड़ी रही हो, इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उसके निर्माण के लिये दानवों की भाँति कार्य किया था। यद्यपि अन्त में वे विफल रहे किन्तु दूसरों ने उनकी बनाई हुई नींव पर भवन निर्माण किया। प्रारम्भिक मुस्लिम शासन-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी प्रयोगवादिता थी और उसी में उसकी शक्ति तथा दुर्बलतायें अन्तर्निहित थीं।

वे अग्रगामी विजेता यद्यपि कुशल शासक नहीं थे परन्तु युद्धों में सफलता मिलने से जो उत्तरदायित्व उनके कंधों पर पड़ा उनसे वे मुँह नहीं मोड़ सके। इसीलिये इमादुद्दीन को सिन्ध में ऐसी शासन-व्यवस्था ईजाद करनी पड़ी जिसे सरलता से परम्परागत ढाँचे में आत्मसात न किया जा सका। प्रारम्भ में काफिरों

सामने इस्लाम और मृत्यु, इन दो में से एक को अंगीकार करने के अतिरिक्त ा कोई चारा न था, किन्तु शीघ्र ही विजेता ने अनुभव किया कि इन्हें जीवन- न देना और इनकी सेवाओं का उपयोग करना अधिक लाभदायक है, उनकी ाओं के बिना काम ही चलना असम्भव था, विशेषकर राजस्व विभाग का। न प्रकार मुसलमानों को भारत-विजय के प्रथम प्रयत्न में ही विशाल हिन्दू नता को जीवित रहने देने पर बाध्य होना पड़ा और उससे केवल जिज़या सूल किया गया। क़ाफिर प्रजा की इस विशाल संख्या का विजेताओं पर दूर- ामी प्रभाव पड़ा, चाहे वह बुरा ही भले रहा हो।

दूसरी स्मरणीय बात यह थी कि ८७१ ई० के बाद सिन्ध और मुल्तान के अरब शासक खलीफा से स्वतन्त्र हो गये थे। भारत का विच्छिन्न प्रान्त सब प्रकार के धर्म-द्रोहियों (जैसे कर्माथी) का शरण-स्थान बन गया और इस प्रकार राजनैतिक ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से भी खलीफा के प्रभुत्व से मुक्त होगया। इसलिये सिन्ध और मुल्तान के परवर्ती शासक स्वयं अपने स्वामी थे और किसी धार्मिक अथवा धर्म-निरपेक्ष प्रभु का आधिपत्य स्वीकार नहीं करते थे, अस्थायी रूप से कभी-कभी अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति के सामने उन्हें भले ही झुकना पड़ता, जैसे जाम बाबनिया को फीरोज़ के सामने घुटने टेकने पड़े थे। इस प्रान्त के सुम्र आदि राजपूत शासकों ने इस्लाम अंगीकार कर लिया, इसका भी अन्त में उस राजनीति पर, जो नाम के लिये इस्लामी कहलाई, प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। इस्लामी समाज मूलतः धर्म सापेक्ष तथा अविभाज्य था और मुहम्मद की मृत्यु के बाद केवल खलीफा ही उसका एक धार्मिक तथा ऐहिक प्रमुख था। किन्तु सिन्ध के जाम सामान्यता स्वयम् अपने प्रभु थे।

भारत का दूसरा मुस्लिम विजेता, ग़ज़नी का बुतशिकन यद्यपि नाम के लिये बगदाद का प्रभुत्व मानता था पर वह भी राजनैतिक विषयों में धार्मिक नियमों को हठपूर्वक पालन करने के लिये उद्यत नहीं था। उसे मूर्ति पूजा का नाश करने की प्रेरणा मिली और इसलिये उसने काफ़िरों के विरुद्ध जिहाद का प्रण किया, उसने हिन्दुओं के मन्दिरों की लूटमार तथा नाश किया और इस देश के हजारों निवासियों को तलवार के घाट उतारा, दासता की बेड़ियों में जकड़ा और इस्लाम अंगीकार करने पर बाध्य किया, किन्तु इमादुद्दीन की भाँति उसने भी अधर्मान्तरित हिन्दुओं के मूल्य को पहचाना। उन्हें सेना में भर्ती किया गया, उन्हें करद बनाकर छोड़ दिया गया जैसे कन्नौज के राज्यपाल को और कुछ से तो कूटनीतिक सेवा भी ली गई जैसे तिलक से। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, महमूद के उत्तराधिकारी मसूद को सिंहासन के लिये अपने भाई मुहम्मद से संघर्ष करना पड़ा और उसे अन्धा करके कारागार में डालकर वह गद्दी पर बैठा। शान्तिमय उत्तराधिकार के किसी स्वीकृत नियम के न होने के कारण प्रत्येक सुल्तान की मृत्यु के बाद अनिवार्य रूप से यही उदाहरण दुहराया गया। मत्स्य न्याय के सिद्धान्त ने

१०

साम्राज्य का संक्रमण काल

जिस साम्राज्य की स्थापना बाबर ने इतने परिश्रम से की थी, उसकी नींव दुर्बल तथा अस्थिर थी। किसी महराब की शक्ति तथा दृढ़ता उसके केन्द्रीय पत्थर पर निर्भर रहती है किन्तु मुगल साम्राज्य रूपी महराब का केन्द्रीय पत्थर इतना दुर्बल था कि वह उसके भार को दृढ़ता से अधिक दिनों तक न सँभाल सका। हुमायूँ के अपनी विरासत को खोने तथा उसे पुन प्राप्त करने की कहानी बाबर के साहसिक कार्यों की कथा से कम चित्ताकर्षक नहीं है। साथ ही साथ वह शिक्षाप्रद भी है क्योंकि उससे प्रकट होता है कि उस युग में साम्राज्य का स्थायित्व शासक के निजी चरित्र पर निर्भर था। हुमायूँ के जीवन को हम चार स्पष्ट युगों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रारम्भिक जीवन राज्यारोहण तक (१५०८ से ३० ई०), (२) अपनी विरासत को बनाये रखने के लिये उसके संघर्ष (१५३० से ४० ई०), (३) निर्वासन के पन्द्रह वर्ष (१५४० से ५५ई०), और (४) पुन राज्य प्राप्त करना तथा मृत्यु (१५५५–५६ ई०)।

हुमायूँ का प्रारम्भिक जीवन

हुमायूँ का जन्म ६ मार्च, १५०८ ई० को काबुल के किले में हुआ था। बाबर की मृत्यु के तीन दिन बाद २६ दिसम्बर, १५३० ई० को तेईस वर्ष की अवस्था में वह आगरा में सिंहासनारूढ़ हुआ। खवाँद मीर लिखता है, 'जड़ तथा चैतन्य जगत के कर्ता दयालु ईश्वर ने अपने हाथों से इस विश्व विजयी शासक को राजत्व की पोशाक में विभूषित किया। पूर्वोक्त महीने की नौ तारीख को शुक्र के दिन आगरे की जामामसजिद में इस श्रेष्ठ राजा के नाममें खुतबा पढ़ा गया और लोगों की भीड़ से जयजयकार की जो ध्वनि उठी वह स्वर्ग के उस पार पहुँच गई।' तबकाते अकबरी में लिखा है, 'सम्राट बाबर की मृत्यु के उपरान्त राजकुमार हुमायूँ जो संभल से आ गया था जुमदा-उल-अव्वल की नौ तारीख को ९३७ हिजरी में अमीर निजामुद्दीन अली खलीफा की सहायता से आगरे में सिंहासन पर बैठा। पदाधिकारियों ने उसके प्रति अपनी राजभक्ति प्रकट की और उसने

अमीरों तथा अधिकारियों के साथ दयालुता का बर्ताव किया। जिन लोगों को पूर्व सम्राट के समय में पद और मन्सब मिले हुए थे उन्हें स्थायी कर दिया गया और नये सम्राट के अनुग्रह से प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हुआ।'

१५२० ई० में खान मिर्ज़ा की मृत्यु के उपरान्त हुमायूँ को १२ वर्ष की अवस्था में बदख्शाँ का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था। बाबर ने स्वयं हुमायूँ की माता के साथ उस प्रान्त में जाकर राजकुमार को नये पद पर आसीन किया। १५२५ ई० में जब बाबर ने भारत पर आक्रमण किया तो हुमायूँ बदख्शाँ से एक टुकड़ी लेकर उसको सहायता के लिये आ गया। इस युद्ध में हुमायूँ ने हिसार फीरोज़ा के एक दल को जो इब्राहीम लोदी की सहायता के लिये जा रहा था १५२६ ई० में परास्त किया। पानीपत के युद्ध के उपरान्त हुमायूँ को, जिसने अपना काम भली भाँति पूरा किया था बाबर ने एक बहुमूल्य हीरा तथा ७०,००,००० दाम (लगभग २०,००० पौंड) भेंट किये। हुमायूँ ने पूर्वी प्रदेशों के विद्रोही अफगानों पर भी चढ़ाई की और संभल, जौनपुर, गाज़ीपुर तथा कालपी पर अधिकार कर लिया। १५२७ ई० में कानुआ के युद्ध में हुमायूँ ने मुगल सेना के दक्षिण पार्श्व का संचालन किया और इसके लिये उसे भली-भाँति पुरस्कृत किया गया। १५२८ ई० में वह फिर बदख्शाँ को लौट गया, बाबर ने उसे अपने भाइयों के साथ हिसार, समरकन्द अथवा मर्व—जैसी भी सुविधा हो—पर चढ़ाई करने की आज्ञा भेजी और लिखा, 'यह समय ऐसा है जब कि तुम्हें संकटों तथा कठि-नाइयों का आह्वान तथा अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिये। प्रत्येक संकट में अधिक से अधिक परिश्रम करने से मत चूको; प्रमाद तथा सुख का जीवन राजाओं के लिये शोभा नहीं देता।' उसी पत्र में बाबर ने हुमायूँ को बहुत कुछ अच्छी सलाह दी और कहा, 'अपने भाई कामरान के साथ अच्छा व्यवहार करो, बदख्शाँ में अकेलेपन की शिकायत मत करो क्योंकि यह एक राजकुमार को शोभा नहीं देता, अपने बेगों तथा मन्त्रियों, विशेषकर ख्वाजा कलाँ से मन्त्रणा किया करो; निजी दावतों से बचो किन्तु दरबार को प्रतिदिन दो बार बुलाओ और अपनी सेना की शक्ति तथा अनुशासन कायम रखो।' यद्यपि बाबर हुमायूँ के विषय में इतना चिन्तित तथा सावधान रहता था फिर भी वह १५२६ ई० में सहसा भारत को लौट आया। बाबर ने अपने पुत्र के आगमन का इस प्रकार उत्साहपूर्वक वर्णन किया है —

'मैं उसकी माता से उसके विषय में बात कर ही रहा था कि वह आ पहुँचा। उसकी उपस्थिति से हमारे हृदय गुलाब की कलियों की भाँति खिल उठे और नेत्र मशालों की भाँति चमक उठे। मेरा यह नियम था कि मैं प्रतिदिन अपना भोजनालय खुला रखता था किन्तु इस अवसर पर मैंने उसके सम्मान में दावतें दी और प्रत्येक भाँति उसके साथ विशिष्ट बर्ताव किया। कुछ समय तक हम अत्यधिक घनिष्ठता से साथ-साथ रहे। सत्य यह है कि उसके सम्भाषण में अनिर्वचनीय आकर्षण था और उसने पूर्ण पुरुषत्व के आदर्श को प्राप्त कर लिया था।'

था और साम्राज्य के दूरस्थ भागों में मुगल-सत्ता केवल नाममात्र को स्वीकार की जाती थी।

अफगान—अनेक अफगान सामन्तों के अधिकार में अभी तक शक्तिशाली जागीरें थीं और वे यह नहीं भूले थे कि कुछ समय पहले दिल्ली के सुल्तान अफगान ही थे। जब अपदस्थ राजवंश का एक सदस्य (सुल्तान महमूद लोदी) बिहार में प्रकट हुआ तो एक शक्तिशाली विद्रोह की सभी सामग्री उसके आस-पास एकत्र होगई। इस प्रकार अपने पैतृक राज्य में भी जो समस्त भारत का लगभग आठवाँ भाग था, हुमायूँ की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी और न वह प्रतिद्वन्दियों तथा विद्रोहों के भय से मुक्त था। अफगानों के लिये जो विद्रोह करने के लिये तैयार बैठे थे, संगठित होने के तीन केन्द्र थे। (१) इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी जिसे बाबर ने खदेड़ दिया था किन्तु कुचल नहीं पाया था। पुराने अफगान अमीरों ने उसका साथ दिया, बबन और बायजीद, जिन्हें पूर्वी प्रान्तों तथा बिहार की ओर भगा दिया गया था, वापिस लौटने तथा जिस राज्य से निकाल दिये गये थे उस पर पुनः अधिकार करने के लिये सुअवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। बंगाल का सुल्तान भी, जिसने महमूद लोदी की एक बहिन से विवाह कर लिया था, उसकी सहायता कर रहा था। (२) शेर खाँ सूर जो समस्त अफगान दल में सबसे अधिक योग्य, सिद्धान्तहीन तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था, बाबर के अन्तिम दिनों में ही विद्रोहियों से मिल गया था, यद्यपि मुगल सम्राट ने उसे अनेक अनुग्रह चिन्हों से विभूषित किया था और कई परगने देकर पूर्वीय प्रान्तों का भार सौंप दिया था। वह मुगलों को बहुत घृणा की दृष्टि से देखता था जैसा कि उसके निम्न कथन से स्पष्ट है —

'यदि भाग्य मेरा साथ दे तो मैं इन मुगलों को हिन्दुस्तान से मारकर निकाल सकता हूँ, युद्ध में वे हम से श्रेष्ठ नहीं हैं किन्तु हमने अपने पारस्परिक झगड़ों के कारण राज-सत्ता अपने हाथ से निकल जाने दी है। मैं मुगलों में रह चुका हूँ और मैंने उनका आचरण देखा है, उनमें व्यवस्था और अनुशासन का अभाव है, उनमें से जो अपने जन्म तथा पद के अहंकार के कारण उनके नेता होने का दावा करते हैं, वे निरीक्षण सम्बन्धी कर्तव्य का पालन नहीं करते और सब कुछ अधिकारियों पर छोड़ देते हैं और अन्धे होकर उन पर विश्वास करते हैं। ये अधीन अधिकारी हर विषय में भ्रष्टतापूर्ण आचरण करते हैं।' '— वे सदैव लाभ की चिन्ता में रहते हैं और सैनिक अथवा असैनिक, मित्र अथवा शत्रु मे भेद नहीं करते।'

यह मूल्यांकन उचित हो अथवा अनुचित, इससे शेर खाँ की जो शीघ्र ही हुमायूँ को निर्वासित करके सिंहासन पर अधिकार करनेवाला था, महत्वाकांक्षा प्रकट होती है। (३) इब्राहीम लोदी का चचा आलम खाँ अथवा अलाउद्दीन लोदी उन व्यक्तियों में से था जिन्होंने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया था और पानीपत के युद्ध में वह अपने भतीजे के विरुद्ध

किन्तु हुमायूँ ने अपना कार्यभार क्यों छोड़ा इसके तीन कारण थे, (१) उज़बेगों के विरुद्ध जिन्होंने पुन: आक्रमण आरम्भ कर दिये थे उसकी विफलता, (२) बाबर का गिरता हुआ स्वास्थ्य और उसका हिंदाल को काबुल से अपने पास बुलाना, और (३) आगरा में हुमायूँ को सिंहासन से वंचित करने का षड्यन्त्र।

यह षड्यन्त्र मीर मुहम्मद महदी ख्वाजा के पक्ष में रचा गया था, वह बाबर का बहनोई था और कानुआ के युद्ध में उसने मुगल सेना के वाम पार्श्व का सचालन किया था। इस षड्यन्त्र का मूल तथा उसका ब्यौरा हमारे लिये निरर्थक है क्योंकि अन्त में वह निष्फल रहा। रशब्रुक विलियम्स लिखते हैं, "षड्यन्त्र-कारियों को अपनी योजना की सफलता की आशा थी इससे कम से कम यह स्पष्ट है कि बाबर की मानसिक तथा शारीरिक शक्तियाँ क्षीण होने लगीं थीं।" हुमायूँ काबुल में कामरान तथा हिन्दाल से मिला था और आगरे में जो षड्यन्त्र चल रहा था उसको ध्यान में रखते हुये वे तैयार हो गये कि हुमायूँ शीघ्र ही राजधानी पहुँचे और हिन्दाल बदख्शाँ में उसके स्थान पर कार्य-भार संभाल ले। अन्त में बाबर ने सुलेमान मिर्जा को वहाँ भेज दिया। शेष कहानी पहले कही जा चुकी है। षड्यन्त्र प्रारम्भ होने से पहले ही कुचल दिया गया इसलिये हुमायूँ ने अपना कुछ समय अपनी जागीर संभल में बिताया। उसके उपरान्त उसकी बीमारी और फिर २६ दिसम्बर १५३० ई० को बाबर का प्रेमपूर्ण बलिदान। मृत्यु से पहले बाबर ने अपने अमीरों से हुमायूँ के सम्बन्ध में इन स्पष्ट शब्दों में कहा, "इस समय जब कि मैं रोगशैय्या पर पड़ा हुआ हूँ तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि हुमायूँ को मेरा उत्तराधिकारी स्वीकार करलो और उसके प्रति वफादार रहो। अनन्य हृदय तथा मस्तिष्क से उसकी सेवा करो और मुझे आशा है कि ईश्वर की कृपा से हुमायूँ का भी लोगों के प्रति अच्छा आचरण रहेगा।" किन्तु जैसे ही बाबर ने अन्तिम साँस ली अथवा ख्वाँद मीर के शब्दों में वह 'इस संसार के सिंहासन को छोड़ कर स्वर्ग गया,' वैसे ही हुमायूँ के संकट प्रारम्भ हो गये।

हुमायूँ की राजनैतिक विरासत

बाबर ने हुमायूँ के लिये जो साम्राज्य विरासत में छोड़ा वह 'राज्यों का संघटन मात्र था, उन्हें परस्पर सम्बद्ध करनेवाला कोई एकता अथवा सार्वदेशिक हित का सूत्र नहीं था, जो कुछ एकता थी वह केवल स्वयं उसके जीवन के कारण थी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उसकी मृत्यु के समय पूर्व मुसलमान राजवंशों की भाँति मुगलवंश की जड़े भी देश की भूमि में भली प्रकार नहीं जम पायीं थीं।' बाबर न तो पूर्व में स्थित बंगाल को ही जीतकर अपने साम्राज्य में मिला सका था और न दक्षिण में मालवा तथा गुजरात के प्रान्तों को जो अब तक एक शासक (बहादुरशाह) की अधीनता में संयुक्त हो चुके थे। राजपूताना के अनेक सामन्त

था और साम्राज्य के दूरस्थ भागों में मुगल-सत्ता केवल नाममात्र को स्वीकार की जाती थी।

अफगान—अनेक अफगान सामन्तों के अधिकार में अभी तक शक्तिशाली जागीरें थीं और वे यह नहीं भूले थे कि कुछ समय पहले दिल्ली के सुल्तान अफगान ही थे। जब अपदस्थ राजवंश का एक सदस्य (सुल्तान महमूद लोदी) बिहार में प्रकट हुआ तो एक शक्तिशाली विद्रोह की सभी सामग्री उसके आस-पास एकत्र होगई। इस प्रकार अपने पैतृक राज्य में भी जो समस्त भारत का लगभग आठवाँ भाग था, हुमायूँ की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी और न वह प्रतिद्वन्दियों तथा विद्रोहों के भय से मुक्त था। अफगानों के लिये जो विद्रोह करने के लिये तैयार बैठे थे, संगठित होने के तीन केन्द्र थे: (१) इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी जिसे बाबर ने खदेड़ दिया था किन्तु कुचल नहीं पाया था। पुराने अफगान अमीरों ने उसका साथ दिया, बब्बन और बायजीद, जिन्हें पूर्वी प्रान्तों तथा बिहार की ओर भगा दिया गया था, वापिस लौटने तथा जिस राज्य से निकाल दिये गये थे उस पर पुनः अधिकार करने के लिये सुअवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। बंगाल का सुल्तान भी, जिसने महमूद लोदी की एक बहिन से विवाह कर लिया था, उसकी सहायता कर रहा था। (२) शेर खाँ सूर जो समस्त अफगान दल में सबसे अधिक योग्य, सिद्धान्तहीन तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था, बाबर के अन्तिम दिनों में ही विद्रोहियों से मिल गया था, यद्यपि मुगल सम्राट ने उसे अनेक अनुग्रह चिन्हों से विभूषित किया था और कई परगने देकर पूर्वीय प्रान्तों का भार सौंप दिया था। वह मुगलों को बहुत घृणा की दृष्टि से देखता था जैसा कि उसके निम्न कथन से स्पष्ट है —

'यदि भाग्य मेरा साथ दे तो मैं इन मुगलों को हिन्दुस्तान से मारकर निकाल सकता हूँ, युद्ध में वे हम से श्रेष्ठ नहीं हैं किन्तु हमने अपने पारस्परिक झगड़ों के कारण राज-सत्ता अपने हाथ से निकल जाने दी है। मैं मुगलों में रह चुका हूँ और मैंने उनका आचरण देखा है, उनमें व्यवस्था और अनुशासन का अभाव है, उनमें से जो अपने जन्म तथा पद के अहंकार के कारण उनके नेता होने का दावा करते हैं, वे निरीक्षण सम्बन्धी कर्तव्य का पालन नहीं करते और सब कुछ अधिकारियों पर छोड़ देते हैं और अन्धे होकर उन पर विश्वास करते हैं। ये अधीन अधिकारी हर विषय में भ्रष्टतापूर्ण आचरण करते हैं। — वे सदैव लाभ की चिन्ता में रहते हैं और सैनिक अथवा असैनिक, मित्र अथवा शत्रु में भेद नहीं करते।'

यह मूल्यांकन उचित हो अथवा अनुचित, इससे शेर खाँ की जो शीघ्र ही हुमायूँ को निर्वासित करके सिंहासन पर अधिकार करनेवाला था, महत्वाकांक्षा प्रकट होती है। (३) इब्राहीम लोदी का चचा आलम खाँ अथवा अलाउद्दीन लोदी उन व्यक्तियों में से था जिन्होंने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया था और पानीपत के युद्ध में वह अपने भतीजे के विरुद्ध

गालियों की विजय। बीजापुर तथा अहमदनगर में अन्तिम युद्ध। वल्लभाचार्य की मृत्यु।

१५३२ बंगाल तथा गुजरात के बीच संधि। शेर खाँ चुनार तथा रोहतास पर अधिकार कर लेता है। जोधपुर का मालदेव अजमेर तथा नागौड को पुनः जीत लेता है। पुर्तगाली बम्बई तथा थाना से कर वसूल करते हैं, वेसीन पर अधिकार तथा उसका नाश। हुमायूँ के मालवा तथा गुजरात में युद्ध।

१५३३ नसरतशाह तथा उसके बाद उसके पुत्र फीरोज़ का वध, बंगाल में ग्यासुद्दीन महमूद द्वारा सिंहासन का अपहरण। कर मिलने पर बहादुरशाह चित्तौड़ का घेरा उठा लेता है।

१५३४ बीजापुर के इस्माइल की मृत्यु, उसका पुत्र मल्लू छः महीने बाद अपदस्थ कर दिया जाता है। पुर्तगालियों द्वारा ड्यू की किले बन्दी।

१५३५ हुमायूँ की बहादुर पर विजय, माण्डू तथा चम्पानेर पर अधिकार। मल्लू का अपदस्थ किया जाना तथा इब्राहीम आदिलशाह का राज्यारोहण। मेवाड़ में अराजकता।

१५३६ शेर खाँ बिहार का स्वामी हो जाता है। ड'कूना वेसीन की किले-बन्दी करता है।

१५३७ बहादुरशाह का डूब जाना।

१५३८ गुरु नानक की मृत्यु (जन्म १४६९ ई०), गुरु अङ्गद का गद्दी पर बैठना।

१५३९ बंगाल में शेर खाँ द्वारा हुमायूँ की पराजय, शेरशाह राजा घोषित कर दिया जाता है। दी सोसाइटी ऑफ जीसस (ईसामसीह का समाज) की स्थापना।

१५४० हुमायूँ की शेरशाह द्वारा कन्नौज में अन्तिम पराजय। शेरशाह दिल्ली पर अधिकार कर लेता है। हुमायूँ का चचेरा भाई मिर्जा हैदर काश्मीर को जीत लेता है। हुमायूँ का निर्वासन।

११

अफ़गानों का पुनरारोहण

"तिमूर के वंशजों का यह बड़ा सौभाग्य था कि अन्त में उन्हें अपनी विजय की विरासत पुन प्राप्त हो गई, जिसे अफगान शेरशाह ने अपने कार्यों द्वारा सुदृढ़ बना दिया—शेरशाह में प्रशासन सम्बन्धी मौलिक प्रतिभा थी और अनजाने उसने मुगलों के लिये प्रशासनतन्त्र का वह ढाँचा खड़ा कर दिया जो उनके नये राजत्व सिद्धान्तों की, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते थे, विजय के लिये आवश्यक था किन्तु जिसका अपने लिये निर्माण करने के वे सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुये थे।" रशब्रुक विलियम्स ने इस संक्षिप्त कथन में मुगल साम्राज्य के इतिहास में अफगान पुनरारोहण के महत्व का सारांश सुन्दर ढंग से व्यक्त कर दिया है। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार हुमायूँ के प्रथम शासनकाल की घटनाओं का शेरशाह के भाग्य से अभिन्न सम्बन्ध था, उसी प्रकार उसके पुनरारोहण तथा पुन. राज्य प्राप्ति की घटनायें शेरशाह के वंशजों के दुर्भाग्य से सम्बद्ध थीं। बाबर की प्रतिभा तथा हुमायूँ की राजनैतिक अयोग्यता के वैषम्य का प्रतिबिम्ब भी अफगान इतिहास में उपलब्ध होता है और इन दोनों से हमें एक ही शिक्षा मिलती है कि राजतन्त्रीय प्रतिभा विरासत में नहीं दी जा सकती। हुमायूँ के विरुद्ध शेरशाह के विजय-संघर्ष का वर्णन करते समय हम उसके जीवन का अधिकांश इतिहास लिख आये हैं। यहाँ पर हम उसके जीवन तथा चरित्र का अधिक विशद अध्ययन करेंगे।

शेरशाह का प्रारम्भिक जीवन

शेरशाह का जन्म सुल्तान बहलोल के शासन काल (१४५०—८८ ई०) में फीरोज़शाह तुग़लक द्वारा संस्थापित हिसार-फीरोजा (विजय नगर) नामक नगर में हुआ था। 'शेरशाह का दादा इब्राहीम खाँ सूर अपने पुत्र हसन खाँ के साथ जो आगे चलकर शेरशाह का पिता हुआ, अफगानिस्तान से हिन्दुस्तान आ गया था।...—वे बजवाड़ा के परगने में बस गये।' आगे चलकर हिसार फीरोज़ा के जमाल खाँ सरंगखानी ने इब्राहीम को 'नारनौल परगने में कई गाँव

तथा अन्य पेशे के लोगों के लिये भी नियम थे और जो राजकीय अधिकारियों का पथ-प्रदर्शन करने के लिये थे, चाहे वे इस्लामी नियमों के अनुसार थे अथवा नहीं, इस आज्ञा से इन विषयों पर काजियों तथा मुफ्तियों से परामर्श करने की आवश्यकता नहीं रही।

प्रशासन का रूप—सलीमशाह के प्रशासन का सबसे अच्छा वर्णन 'तारीखे-दाऊदी' के लेखक ने किया है अब्दुल्ला लिखता है, 'तड़क-भड़क, सज-धज और प्रभुत्व तथा विजय की महत्वाकांक्षा में इस्लामशाह अपने पिता के समान था। सिंहासन पर बैठने के दिन उसने दो मास का नकद वेतन अपने सैनिकों में बँटवा दिया। इसमें से एक महीने का इनाम के रूप में और शेष भत्ते के रूप में दिया गया। उसने अपने राज्य के प्रान्तों की सभी जागीरें वापिस ले ली और बदले में उनके उपभोक्ताओं को राज-कोष से नकद पेंशनें दे दी गईं। जिन लोगों को शेरशाह के समय में वृत्तियाँ मिली हुई थी उन्हें भूमि तथा परगने दे दिये गये। शेरशाह के समय में शाही शिविर में दरिद्रों को सदावर्त बाँटने के लिये सदैव एक स्थान निश्चित रहता था। इसके स्थान पर इस्लामशाह ने आज्ञा निकाली कि सरायों में ही दान देने का प्रबन्ध किया जाय और दरिद्र यात्रियों को उनकी आवश्यकता की चीज़ें दी जायँ और फकीरों को दैनिक भत्ता मिले, जिससे वे शान्त तथा सन्तुष्ट रहें। जब वह राजकुमार था उसके पास ६,००० घुड़सवार थे, अब उसने उन सबकी तरक्की कर दी। उसने सिपाहियों को अधिकारी तथा अधिकारियों को अमीर बना दिया। इस्लामशाह के इन नियमों से शेरशाह के नियमों का चलन बन्द हो गया। इससे शेरशाह के समय के अनेक प्रमुख अमीरों को बहुत असन्तोष हुआ, उन्होंने समझा कि ये हमें अपमानित करने के लिये बनाये गये हैं, और इसलिये वे इस्लामशाह के प्रति द्वेष भाव रखने लगे। उधर वह स्वयम् उनकी ओर से शङ्कित था, इसलिये मुख्य अमीरों तथा राजा के बीच जो सम्बन्ध थे उनका रूप बदल गया।'

को पत्र लिख कर उनमें से अनेक का समर्थन प्राप्त कर लिया और आदिल खाँ को साथ लेकर आगरे की ओर चल पड़ा। • (किन्तु) यद्यपि उसके सैनिकों ने वीरतापूर्वक युद्ध किया फिर भी सलीमशाह ने उसे पराजित कर दिया। इस युद्ध के उपरान्त आदिल शाह पहले पटना को भाग गया, किन्तु शीघ्र ही लुप्त हो गया और उसके बारे में फिर कभी कुछ नहीं सुना गया, विद्रोही अमीरों ने भाग कर कुमायूँ की पहाड़ियों में शरण ली, किन्तु केवल थोड़े समय के लिये।

'इन घटनाओं के बाद इस्लामशाह अपने अमीरों का अविश्वास करने लगा और उनकी शक्ति को कुचलने का उपाय सोचने लगा। कुछ को उसने कारागार में डलवा दिया और शेष की सम्पत्ति छीन ली। उसने अपने भतीजे, आदिल खाँ के पुत्र महमूद खाँ को भी नियन्त्रण में रख दिया और पहले कुतुब खाँ सूर को फिर बरमजीद सूर, जलाल खाँ सूर तथा जैन खाँ न्याजी को नष्ट कर दिया। उसने जलाल खाँ सूर तथा उसके भाई को हाथी के पैरों से बाँध कर मरवा डाला, और तत्पश्चात् पूर्वोक्त अमीरों को हाथी पर बिठला कर शिविर में घुमवाया। शेरशाह के अमीरों के हृदयों में भय तथा आतंक छा गया। इसके बाद उसने अनेक दूसरे अमीरों का वध करवा दिया जिनमें खावस खाँ भी जिसे मसनद अली की उपाधि प्राप्त थी, सम्मिलित था, एक साधारण बहाना ढूँढ कर उसे खूँटों पर ठुकवा दिया गया। दीर्घकाल तक वह अपनी सम्पूर्ण प्रजा को दुःख पहुँचाता रहा और ईश्वर के सेवकों को कष्ट देता रहा, किन्तु अपने शासन के अन्त में उसने अपनी प्रजा के साथ उदारता तथा दयालुता का व्यवहार किया।'

ऊपर हम जो कुछ लिख आये हैं, वह सलीमशाह के प्रशासन के रूप को स्पष्ट करने को पर्याप्त है। अन्य विद्रोह तथा उपद्रव भी हुए, विशेषकर आजम हुमायूँ के नेतृत्व में नियाजियों का और सुल्तान आदम गक्कर (जिसने कामरान को हुमायूँ के सुपुर्द कर दिया था) की अधीनता में गक्करों का। अन्त तक सलीमशाह इन उपद्रवों को दबाने में लगा रहा। इन कष्टपूर्ण वर्षों में अनेक बार उसकी हत्या का भी प्रयत्न किया गया। 'कुछ अमीर मुबारिज खाँ को (जिसे अदली की उपाधि मिली हुई थी) सिंहासन पर बिठलाना चाहते थे।' जैसा कि विद्रोही नियाजियों ने कहा: "किसी को राज्य उत्तराधिकार में नहीं मिलता, वह उसी का होता है जो उसे तलवार द्वारा प्राप्त कर सकता है।" इस्लामशाह को इन लोगों के राजद्रोह का पता लग गया और उसने तुरन्त ही उन सबको एक स्थान पर एकत्र करके दण्ड देने का प्रयत्न किया। अमीरों को उसके विचारों की सूचना मिल गई और वे इकट्ठे हुये तथा करार किया कि हम सब एक साथ दरबार में उपस्थित नहीं होंगे बल्कि एक-एक करके जायेंगे। इस्लामशाह दिन-रात यही सोचा करता और योजना बनाता कि किस प्रकार इन सबका बध कर पाऊँ, किन्तु विधाता का विधान मानवीय इच्छाओं के अनुसार नहीं बदलता, और वह शीघ्र ही बीमार होकर ग्वालियर के किले में चारपाई पर पड़ गया। • •• 'उसने (अपनी पत्नी) बीबी बाई को बुलाया और कहा, "शासन की बागडोर अब भी मेरे हाथों में है, अभी मैंने कुछ भी नहीं

तथा अन्य पेशे के लोगों के लिये भी नियम थे और जो राजकीय अधिकारियों का पथ प्रदर्शन करने के लिये थे, चाहे वे इस्लामी नियमों के अनुसार थे अथवा नहीं, इस आज्ञा से इन विषयों पर काजियों तथा मुफ्तियों से परामर्श करने की आवश्यकता नहीं रही।'

प्रशासन का रूप—सलीमशाह के प्रशासन का सबसे अच्छा वर्णन 'तारीखे-दाऊदी' के लेखक ने किया है . अब्दुल्ला लिखता है, 'तड़क-भड़क, सज धज और प्रभुत्व तथा विजय की महत्वाकांक्षा में इस्लामशाह अपने पिता के समान था। सिंहासन पर बैठने के दिन उसने दो मास का नकद वेतन अपने सैनिकों में बँटवा दिया : इसमें से एक महीने का इनाम के रूप में और शेष भत्ते के रूप में दिया गया। उसने अपने राज्य के प्रान्तों की सभी जागीरें वापिस ले ली और बदले में उनके उपभोक्ताओं को राज-कोष से नकद पेंशनें दे दी गईं। जिन लोगों को शेरशाह के समय में वृत्तियाँ मिली हुई थीं उन्हें भूमि तथा परगने दे दिये गये। शेरशाह के समय में शाही शिविर में दरिद्रों को सदावर्त बाँटने के लिये सदैव एक स्थान निश्चित रहता था। इसके स्थान पर इस्लामशाह ने आज्ञा निकाली कि सरायों में ही दान देने का प्रबन्ध किया जाय और दरिद्र यात्रियों को उनकी आवश्यकता की चीज़ें दी जायँ और फकीरों को दैनिक भत्ता मिले जिससे वे शान्त तथा सन्तुष्ट रहे। जब वह राजकुमार था उसके पास ६,००० घुड़सवार थे, अब उसने उन सबकी तरक्की कर दी। उसने सिपाहियों को अधिकारी तथा अधिकारियों को अमीर बना दिया। इस्लामशाह के इन नियमों से शेरशाह के नियमों का चलन बन्द हो गया। इससे शेरशाह के समय के अनेक प्रमुख अमीरों को बहुत असन्तोष हुआ, उन्होंने समझा कि ये हमें अपमानित करने के लिये बनाये गये हैं, और इसलिये वे इस्लामशाह के प्रति द्वेष भाव रखने लगे। उधर वह स्वयम् उनकी ओर से शङ्कित था, इसलिये मुख्य अमीरों तथा राजा के बी जो सम्बन्ध थे उनका रूप बदल गया।'

विद्रोह तथा उपद्रव—'इस्लामशाह विश्वासघाती शासक था और स्वभाव से ही उसमें बदला लेने की प्रवृति थी। जब शक्ति उसके हाथ में आ गई तो उसने अपने बड़े भाई आदिल खाँ के प्रति, जिसे शेरशाह का युवराज नामनिर्देशित किया गया था, कपटपूर्ण भक्ति का प्रदर्शन किया किन्तु आदिलशाह को सुख और आराम से प्रेम था इसलिये वह अपनी बयाना की जागीर को जो उसे दे दी गई थी, चला गया। फिर भी इस्लामशाह ने उसे पकड़वाने का प्रयत्न किया। फरिश्ता लिखता है, 'आदिलशाह को इसकी समय पर सूचना मिल गई, इसलिये वह मेवात भाग गया जहाँ उस समय खावसखाँ रहता था और नेत्रों में आसू भर कर उस अमीर के सामने अपने भाई की नीचता का वर्णन किया। खावस खाँ के सम्मान का प्रश्न था, इसलिये उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी, उसने गाजी महली (इस्लामशाह का दूत) को पकड़ लिया और खुले रूप से विद्रोह कर दिया। खावस खाँ का चरित्र इतना उच्च कोटि का था कि उसने दरबारी अमीरों

को पत्र लिख कर उनमें से अनेक का समर्थन प्राप्त कर लिया और आदिल खाँ को साथ लेकर आगरे की ओर चल पड़ा। · ·(किन्तु) यद्यपि उसके सैनिकों ने वीरतापूर्वक युद्ध किया फिर भी सलीमशाह ने उसे पराजित कर दिया। इस युद्ध के उपरान्त आदिल शाह पहले पटना को भाग गया, किन्तु शीघ्र ही लुप्त हो गया और उसके बारे में फिर कभी कुछ नहीं सुना गया, विद्रोही अमीरों ने भाग कर कुमायूँ की पहाड़ियों में शरण ली, किन्तु केवल थोड़े समय के लिये।

'इन घटनाओं के बाद इस्लामशाह अपने अमीरों का अविश्वास करने लगा और उनकी शक्ति को कुचलने का उपाय सोचने लगा। कुछ को उसने कारागार में डलवा दिया और शेष की सम्पत्ति छीन ली। उसने अपने भतीजे, आदिल खाँ के पुत्र महमूद खाँ को भी नियन्त्रण में रख दिया और पहले कुतुब खाँ सूर को फिर बरमजीद सूर, जलाल खाँ सूर तथा जैन खाँ न्याजी को नष्ट कर दिया। उसने जलाल खाँ सूर तथा उसके भाई को हाथी के पैरों से बाँध कर मरवा डाला, और तत्पश्चात् पूर्वोक्त अमीरों को हाथी पर बिठला कर शिविर में घुमवाया। शेरशाह के अमीरों के हृदयों में भय तथा आतंक छा गया। इनके बाद उसने अनेक दूसरे अमीरों का वध करवा दिया जिनमें खावस खाँ भी जिसे मसनद अली की उपाधि प्राप्त थी, सम्मिलित था, एक साधारण बहाना ढूँढ कर उसे खूँटों पर ठुकवा दिया गया। दीर्घकाल तक वह अपनी सम्पूर्ण प्रजा को दुःख पहुँचाता रहा और ईश्वर के सेवकों को कष्ट देता रहा, किन्तु अपने शासन के अन्त में उसने अपनी प्रजा के साथ उदारता तथा दयालुता का व्यवहार किया।'

ऊपर हम जो कुछ लिख आये हैं, वह सलीमशाह के प्रशासन के रूप को स्पष्ट करने को पर्याप्त है। अन्य विद्रोह तथा उपद्रव भी हुए, विशेषकर आज़म हुमायूँ के नेतृत्व में नियाजियों का और सुलतान आदम गक्खर (जिसने कामरान को हुमायूँ के सुपुर्द कर दिया था) की अधीनता में गक्खरों का। अन्त तक सलीमशाह इन उपद्रवों को दबाने में लगा रहा। इन संकटपूर्ण वर्षों में अनेक बार उसकी हत्या का भी प्रयत्न किया गया। 'कुछ अमीर मुबारिज़खाँ को (जिसे अदली की उपाधि मिली हुई थी) सिंहासन पर बिठलाना चाहते थे।' जैसा कि विद्रोही नियाजियों ने कहा : "किसी को राज्य उत्तराधिकार में नहीं मिलता, वह उसी का होता है जो उसे तलवार द्वारा प्राप्त कर सकता है।" इस्लामशाह को इन लोगों के राजद्रोह का पता लग गया और उसने तुरन्त ही उन सबको एक स्थान पर एकत्र करके दण्ड देने का प्रयत्न किया। अमीरों को उसके विचारों की सूचना मिल गई और वे इकट्ठे हुये तथा करार किया कि हम सब एक साथ दरबार में उपस्थित नहीं होंगे बल्कि एक एक करके जायेंगे। इस्लामशाह दिन-रात यही सोचा करता और योजना बनाता कि किस प्रकार इन सबका वध कर पाऊँ, किन्तु विधाता का विधान मानवीय इच्छाओं के अनुसार नहीं बदलता, और वह शीघ्र ही बीमार होकर ग्वालियर के किले में चारपाई पर पड़ गया। ······उसने (अपनी पत्नी) बीबी बाई को बुलाया और कहा, "शासन की बागडोर अब भी मेरे हाथों में है, अभी मैंने कुछ भी नहीं

खाया है। यदि तुम चाहती हो कि मेरे उपरान्त तुम्हारा पुत्र शासन करे तो मुझे बतलादो। मैं तुम्हारे भाई मुबारिज़खाँ को मरवा डालूँगा।" इस पर बीबी बाई रोने लगी। इस्लामशाह ने कहा, "तुम्हीं सबसे अच्छा समझती हो।"

और फिर जैसे ही वह बोल रहा था, सहसा पलक मारते ही उसके प्राण पखेरु उड़ गये और ९६१ हिजी में (नवम्बर १५४४) उसने परलोक को प्रयाण किया।

अनेक सैनिकों को राजा की बीमारी का समाचार नहीं मिला था, इसलिये उसकी अप्रत्याशित मृत्यु की सूचना पाकर वे सब घबड़ा गये और बहुत दुःखी हुए, क्योंकि इससे उनके सभी कामों में गड़बड़ पड़ गई। उसका शव ग्वालियर से सासराम ले जाकर, उसके पिता के निकट दफना दिया गया।

फिरोजशाह सूर—बाद की घटनाओं का फरिश्ता इस प्रकार वर्णन करता है —सलीमशाह के उपरान्त 'उसका पुत्र फीरोज़ जिसकी अवस्था उस समय केवल १२ वर्ष की थी, उत्तराधिकारी हुआ और सूर जाति के अमीरों ने ग्वालियर में उसे सिंहासन पर बिठला दिया। वह तीन दिन भी शासन न कर पाया था कि निजामखाँ सूर (शेरशाह का बड़ा भाई) के पुत्र मुबारिजखाँ ने जो स्वर्गीय शेरशाह का भतीजा तथा इस्लामशाह का बहनोई था, युवक सम्राट की हत्या करदी और स्वयं सिंहासन पर बैठ गया तथा मुहम्मद आदिलशाह की उपाधि धारण की।" सलीमशाह की मृत्यु के तीसरे दिन मुबारिजखाँ ने रनिवास में प्रवेश किया और उस अभागे सम्राट को अपनी बहिन बीबी बाई की गोद से छीन कर अपने हाथों से उसका वध कर दिया।' जब कभी उसके पति ने कहा था कि मुबारिज़खाँ राजकुमार के लिये घातक सिद्ध होगा, इसलिये इसे हटा देना ही अच्छा है, तब उसने उत्तर दिया था, 'मेरा भाई भोग विलास तथा । प्रमोद का इतना प्रेमी है कि वह अपने ऊपर राजपद की चिन्ताओं का भार न लेगा।' किन्तु विधाता का विधान मनुष्य की इच्छाओं के अनुसार नहीं बदलता

तीन राजा

महमूदशाह अदली—मुबारिज अपने भानजे की हत्या करके मुहम्मद आदिलशाह के नाम से शेरशाह के सिंहासन पर बैठा। किन्तु शीघ्र उसके च. ने उसकी उपाधि आदिल (न्यायी) को जिसे उसने स्वयं धारण किया था, ० अदली (मूर्ख) में और फिर अन्धली (अन्धा) में परिवर्तित कर दिय एलफिंसटन लिखते हैं, "उसका चरित्र ऐसा नहीं था कि लोग उसके पाप को जाते, वह पूर्णरूप से मूर्ख तथा निकृष्ट व्यभिचार तथा नीच लोगों की संगति शौकीन था, और जितना वह अपने दुर्व्यसनों के कारण घृणास्पद था उतना अपनी अयोग्यता के कारण।" फरिश्ता से एक उद्धारण देना उपयुक्त होगा 'उसने पूर्ववर्ती सुलतानों की, विशेपकर, मुहम्मद तुगलक की दानशीलता

प्रशंसा सुन रखी थी और भ्रमवश अपव्ययता को वह उदारता समझता था, इसलिये उसने अपना कोष खोल दिया और बिना भेदभाव के सभी स्थिति के लोगों में धन लुटाया। जब उसकी सवारी निकलती तो वह भीड़ में सोने से मढ़ी हुई नोकों के वाण फेंकता जो बाज़ार में दस बारह रुपये में बिक जाते। इस घोर अपव्ययता का परिणाम यह हुआ कि पूर्वाधिकारियों से प्राप्त खजाने में कुछ भी न बचा।' जब उसके पास अपना कुछ भी रहा तब उसने अपने अमीरों के पद तथा जागीरें छीन लीं और अपने प्रियजनों में बाँट दीं, 'उनमें से एक हिन्दू दूकानदार हेमू था जिसको उसके पूर्वाधिकारी सलीमशाह ने बाजारों का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया था, उसे उसने प्रशासन का समस्त भार सौंप दिया। उधर राजा, जो कुछ हो रहा था उसकी चिन्ता न करते हुए, अपने रनिवास में अतिशय विलासपूर्ण जीवन में समय नष्ट करता रहा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अफगान अमीर उसके शत्रु हो गये और उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा तथा उसकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। प्रजा की दृष्टि में उसका आचरण दिन प्रतिदिन घृणित होता गया और राजकाज की नियमबद्धता पूर्ण-रूपेण लुप्त हो गई।'

इब्राहीमखाँ सूर—इन अराजकतापूर्ण परिस्थितियों में अधिक महत्वाकांक्षी अमीरों तथा राजकुमारों ने अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिये, ताजखाँ किरानी ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि "राजदरबार की स्थित इतनी विषम हो गई है कि मैंने अपने भाग्य का निर्माण करने का संकल्प कर लिया है।" उसके विद्रोह के कारण राजा को स्वयं रणक्षेत्र में उतरना तथा उसका पीछा करने के लिए चुनार जाना पड़ा। इस अवसर से लाभ उठाकर राजा के चचेरे भाई तथा बहिनोई इब्राहीमखाँ ने 'एक विशाल सेना एकत्र कर ली और दिल्ली नगर पर अधिकार करके सिंहासन पर बैठ गया तथा राज-चिह्न धारण कर लिए। वहाँ से उसने आगरा की ओर प्रस्थान किया और प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। ....'जब महमूदशाह अदली को सब लोगों ने धोखा दिया और उसका साथ छोड़ दिया तो उसने भागकर चुनार में शरण ली और पूर्वी प्रान्तों की सरकार से ही सन्तोष कर लिया, साम्राज्य का पश्चिमी भाग इब्राहीमखाँ के ही अधिकार में रहा।

सिकन्दरशाह सूर—जैसे ही इब्राहीमखाँ दिल्ली के सिंहासन पर बैठा वैसे ही पंजाब में अहमदखाँ नामक राजकुमार के रूप में उसका एक प्रतिद्वन्दी उठ खड़ा हुआ, वह शेरशाह का दूसरा भतीजा था और उसकी बहिन महमूदशाह अदली को ब्याही थी। अहमदखाँ की सहायता हैबातखाँ तथा अन्य सरदारों ने की जिन्हें स्वर्गीय सलीमशाह ने अमीर बनाया था, उसने सिकन्दरशाह की उपाधि धारण की और दस-बारह हजार घुड़सवार लेकर आगरा की ओर चल पड़ा तथा नगर से बीस मील की दूरी पर फर्रा नामक स्थान पर तम्बू गाड़ दिये।

इब्राहीमखाँ ने ७०००० अश्वारोही सेना लेकर उसका सामना किया किन्तु फिर भी पराहत हुआ। तब वह राजधानी छोड़कर भाग गया तथा सांभल में शरण ली, उधर सिकन्दरखाँ ने दिल्ली तथा आगरा दोनों पर अधिकार कर लिया। वह अधिक दिनों अपने सौभाग्य का उपभोग न कर पाया था कि हुमायूँ अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त करने के लिए पंजाब पर चढ़ आया। बाद की घटनाओं का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। सरहिन्द में पराजित होकर सिकन्दर सिवालिक पहाड़ियों में भाग गया, वहाँ से भी निकाले जाने पर उसने बगाल में शरण ली तथा राज्य की बागडोर अपने हाथों में ले ली किन्तु थोड़े ही समय उपरान्त उसकी मृत्यु हो गई।

सूरवंश का अन्त

जब सिकन्दर आगरे में सिंहासन पर बैठा तो उसने एक शानदार दावत दी और अमीरों को एकत्र करके निम्न भाषण दिया जिससे अफगानों में आशा की अन्तिम ज्योति जग उठी —

"मैं अपने को आप लोगों में से ही एक समझता हूँ अब तक मैंने सभी की भलाई के लिए कार्य किया है, मैं किसी प्रकार की उच्चता का दावा नहीं करता। बहलोल ने लोदी जाति को यश तथा ख्याति के शिखर पर पहुँचाया था, शेरशाह ने सूर जाति को ऐश्वर्य प्रदान किया, और अब हुमायूँ मुगल जिसे अपने पिता के विजित देश विरासत में मिले थे, हमें नष्ट करने तथा अपनी सरकार पुन स्थापित करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। इसलिए यदि आप सच्चे हृदय से कार्य करें और अपने व्यक्तिगत झगड़ों तथा शत्रुता को भूल जायँ तो अब भी हम अपना राज्य बनाये रख सकते हैं, किन्तु यदि आप मुझे शासन के लिए अयोग्य समझते हो, तो अपने में से अधिक योग्य तथा बलशाली व्यक्ति को चुन लीजिए जिससे मैं भी उसके प्रति राज्य-भक्ति की शपथ ले सकूँ, मैं अत्यधिक भक्ति के साथ उसका समर्थन करने का वचन देता हूँ और मैं इस बात का प्रयत्न करूँगा कि राज्य अफगानों के हाथ में बना रहे, जिन्होंने अपने पराक्रम के द्वारा इतने दिनों उस पर अधिकार रखा है।" इसके उपरान्त अफगान सरदारों ने एक स्वर से उत्तर दिया "हम सर्वसम्मति से आपको जो सम्राट शेरशाह के भतीजे हैं, अपना वैध प्रभु स्वीकार करते हैं।" फिर सबने कुरान मँगाई और सिकन्दर की अधीनता में रहने तथा अपने में पूर्ण एकता बनाये रखने की शपथ खाई।

किन्तु, जैसा कि फरिश्ता लिखता है, थोड़े ही दिनों में 'सरदार लोग सरकारी उपाधियों तथा पदों के लिए विवाद करने लगे और फूट की लपटें फिर जल उठीं तथा पहले से भी अधिक भयंकर रूप में चमकने लगीं, परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर विश्वासघात का आरोप लगाने लगा, जब कि वह स्वयं उसका सबसे बड़ा अपराधी था।'

सूरवंश के अन्य सदस्यों को भी सिकन्दर से अधिक सफलता नहीं मिली। जिस समय वह मुगलों से युद्ध कर रहा था, उस समय अन्य सूरों ने शत्रु को निकालने के लिये मिलकर उसका साथ नहीं दिया बल्कि आपस में लड़ते रहे। इब्राहीम खाँ ने कालपी पर आक्रमण कर दिया और महमूदशाह अदली ने चुनार से अपने वजीर हैमू को एक सेना देकर जिसमें घोड़ों, हाथियों तथा तोपों की समुचित संख्या थी, साम्राज्य के पश्चिमी भागों पर पुनः अधिकार करने के लिये भेजा। हेमू ने कालपी में इब्राहीम शाह पर धावा बोल दिया और उसे परास्त किया, इब्राहीम ने भाग कर बयाना में अपने पिता (गाजी खाँ) के यहाँ शरण ली, हेमू ने उसका पीछा किया तथा उस नगर में तीन महीने तक घेर रखा। इसी बीच में बंगाल के शासक ने जो स्वयं सूर था अपनी सेना लेकर अदली के विरुद्ध कूच कर दिया, जिससे हेमू को शीघ्र ही लौटना पड़ा। इससे प्रोत्साहित होकर इब्राहीम ने फिर आगरा तक उसका पीछा किया किन्तु पुनः पराजित होकर बयाना को लौट गया। कुछ दिनों बुन्देलखण्ड में जो उस समय बाज़ बहादुर की अधीनता में स्वतन्त्र हो गया था, मारे-मारे फिरने के उपरान्त वह भाग कर उड़ीसा पहुँचा और वहीं अकबर के शासन-काल में कलंकपूर्ण मृत्यु को प्राप्त हुआ। बंगाल के मुहम्मदशाह सूर ने बुन्देलखण्ड में शरण ली किन्तु हेमू ने उसका पीछा किया तथा मार डाला। 'इस विजय के उपरान्त महमूदशाह अदली आगरा की ओर न बढ़ कर चुनार को लौट गया और हुमायूँ से लड़ने के लिए अधिक सेना एकत्र करने लगा, किन्तु शीघ्र ही उसे मुगल सम्राट की मृत्यु का समाचार मिला, इसलिए उसने हेमू को ५०,००० घुड़सवारों तथा ५०० हाथियों के साथ आगरा की ओर भेज दिया; किन्तु वह स्वयं चुनार छोड़ने का साहस न कर सका क्योंकि अफगानों के देशवासियों में कलह फैली हुई थी।' शेष कहानी का सम्बन्ध अकबर के शासन-काल से है। हेमू की पराजय तथा मृत्यु के उपरान्त महमूदशाह का भाग्य तेजी से डूबने लगा। बंगाल के अगले शासक खिज्रखाँ ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया और अदली के हाथों से पूर्वी प्रदेशों का अधिकांश छीन लिया और अन्त में उसे परास्त करके मार डाला।

शेरशाह ने अपनी नाटकीय सफलताओं के साथ जिस ऐश्वर्यपूर्ण तथा आशाजनक युग का आरम्भ किया था, उसके सहसा तथा तेजी से अन्त होने के साथ-साथ देश में एक दुःखद तथा विनाशकारी दुर्भिक्ष भी पड़ा। बदायूँनी ने लोगों की, जो पहले ही निरन्तर युद्ध की अराजकतापूर्ण स्थिति के कारण घोर कष्ट भोग चुके थे, दुर्दशा का निम्नांकित वर्णन किया है :—

'इसी समय पूर्वी प्रान्तों में, विशेषकर आगरा, बयाना तथा दिल्ली में ऐसा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा कि एक सेर अन्न (जुआरी) का मूल्य २½ टंका तक पहुँच गया और इस मूल्य भी पर उसका मिलना कठिन था। बहुत से मुसलमानों ने अपने द्वार बन्द कर लिये और दस-दस, बीस-बीस तथा इससे अधिक संख्या में मर गये, और न उन्हें कफन ही मिला

१२

मुगलों का पुनरारोहण

अकबर का राज्यारोहण

अकबर के जन्म के सम्बन्ध में निजामुद्दीन अहमद का निम्नांकित कथन हम पहले ही उद्धृत कर आये हैं —

'अब नियति ने हुमायूँ के प्रति कुछ समय के लिये अपना व्यवहार बदल दिया और उसे एक पुत्र प्रदान करके समय के पृष्ठ पर एक अमिट छाप लगा दी। पुत्र का जन्म ५ रजब ९४९ (१५ अक्टूबर १५४२ ई०) को हुआ। तारदी बेगखाँ ने अमरकोट के निकट सम्राट को यह शुभ समाचार सुनाया और धार्मिक लोगों की सलाह से सम्राट ने बालक का नाम जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर रक्खा।'

हुमायूँ एक धार्मिक व्यक्ति था. कहा जाता है कि (उसके निजी नौकर जौहर के साक्ष्य के आधार पर) उसने चीनी थाल में एक कस्तूरी तोड़कर रक्खी और सब प्रमुख व्यक्तियों में बाँट दी और कहा. "इस समय अपने पुत्र के जन्म के उपलक्ष में मैं यही भेंट आपको दे सकता हूँ, मेरा विश्वास है कि मेरे पुत्र का यश सारे संसार में उसी भाँति फैल जायेगा जिस प्रकार इस कस्तूरी की गंध इस कमरे में भर गई है।" जब हुमायूँ अपने भाग्य की खोज में ईरान गया तो राजकुमार अकबर को कान्धार में ही छोड़ गया, उसका चाचा अस्करी उसे उठा ले गया, सुल्तान बेगम ने लगभग एक वर्ष तक उसका पालन-पोषण किया और, 'उसके साथ बहुत ही कोमलता का व्यवहार किया।' जब हुमायूँ और कामरान के बीच युद्ध हुआ तो छोटे राजकुमार को काबुल के किले की दीवारों पर तोपों की आग के बीच में रख दिया गया। उसके चाचा हिन्दाल की मृत्यु के उपरान्त उसकी पुत्री रज़िया सुल्ताना के साथ उसका विवाह कर दिया गया और उसे हिन्दाल का पद तथा गज़नी का शासन सौंप दिया गया। इसके बाद जब हुमायूँ ने हिन्दुस्तान को पुन जीतने का प्रयत्न किया तो अकबर अपने पिता के साथ रहा और सरहिंद की महान विजय का श्रेय उसी को दिया गया।

सरहिंद की पराजय के उपरान्त सुल्तान सिकन्दर सूर शिवालिक पहाड़ियों में भाग गया। मीर अब्दुल माली, जिसे उसका पीछा करने के लिये भेजा गया, विफल रहा। इसलिये सिकन्दर की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती गई। जब सम्राट को

अकबर तथा उसके दो मंसबदार ।

पानीपत के बाद की घटनायें : १५६० तक

हेमू के बध के बाद की मुख्य घटनायें इस प्रकार थीं:—

(१) दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार,
(२) मेवात पर अधिकार तथा हेमू के पिता का बध ;
(३) अजमेर को हस्तगत करना,
(४) ग्वालियर का समर्पण,
(५) जौनपुर की विजय, और
(६) रणथम्भौर तथा मालवा पर आक्रमण।

एलफ़िंस्टन का यह कथन ठीक ही है कि, "तिमूर के वंश की सत्ता की पुनः स्थापना इसी तारीख से मानी जा सकती है : यह सब बैरामखाँ के उद्यमों के कारण ही पूरा हो सका था और अब उसकी शक्ति चरम सीमा पर पहुँच गई, जितनी कि कभी किसी प्रजाजन की पहुँची होगी।" इस काल के अन्त में खान-बाबा का अपने उच्च पद से सहसा पतन होगया, यद्यपि यह अप्रत्याशित नहीं था, उसका पतन वूल्जे के उन स्मरणीय शब्दों की याद दिलाता है जो उसने टॉमस क्रॉमवैल से मानवीय भाग्य की चंचलता तथा राजकीय अनुग्रह की अस्थिरता के सम्बन्ध में कहे थे।

अकबर के सामने तीन काम थे (१) खोये हुये राज्यों को पुन प्राप्त करना, (२) अमीरों पर अपनी सत्ता स्थापित करना और (३) आन्तरिक प्रशासन तथा व्यवस्था कायम करना जो इतनी क्रान्तियों के काल में छिन्न भिन्न हो चुकी थी, "अकबर के शासन काल के प्रथम वर्ष में उसका राज्य, पंजाब तथा दिल्ली और आगरा के आस-पास तक ही सीमित था। तीसरे वर्ष में उसने बिना लड़े ही अजमेर पर अधिकार कर लिया, चौथे वर्ष में उसे ग्वालियर मिल गया, और बैराम के पतन से कुछ ही पहले उसने अफगानों को लखनऊ तथा जौनपुर तक के गंगा के प्रदेश से निकाल दिया था।" मुस्लिम इतिहासकारों ने केवल तिथि क्रम के आधार पर घटनाओं का वर्णन किया है और उन्होंने उनके आपेक्षिक महत्व का भी ध्यान नहीं रक्खा है। इसलिये हमें महत्वपूर्ण तथ्यों को इस चक्कर से निकाल कर ऐसे ढंग से व्यवस्थित करना है कि उन्हें समझा जा सके। निम्नांकित वर्णन मुख्यतया 'तबकाते अकबरी,' 'अकबरनामा' 'तथा तारीखे' फिरिश्ता से लिया गया है।

'हेमू के बध के दूसरे दिन सेना ने पानीपत से कूच किया और बिना कहीं पड़ाव डाले सीधी दिल्ली जा पहुँची। नगर के सभी वर्गों के निवासी श्रीमान सम्राट का उचित स्वागत करने तथा उन्हें सम्मानपूर्वक नगर में ले जाने के लिये बाहर आये। वह एक महीने तक वहाँ ठहरा।' यहाँ से दो महत्वपूर्ण आक्रमण

किये गये, (क) एक मेवात पर, क्योंकि 'समाचार मिला था कि हेमू के आश्रित लोग उसके कोष तथा सामान के साथ मेवात में हैं, (ख) दूसरा सिकन्दर अफगान (सूर) पर, जिसकी पराजय का पहले उल्लेख किया जा चुका है। पहले का नेतृत्व पीर मुहम्मद सरवानी ने किया। 'उसने सब व्यक्तियों को पकड़ लिया और सभी मूल्यवान वस्तुओं पर अधिकार करके उन्हें सम्राट के चरणों में प्रस्तुत किया।' अकबरनामा में अन्य ब्यौरे की बातें दी हुई हैं और लिखा है कि हेमू के पिता से धर्म परिवर्तन और मृत्यु में से एक को स्वीकार करने के लिये कहा गया। जब उस बूढ़े ने अपना धर्म छोड़न से इन्कार किया, तो 'पीर मुहम्मद ने अपनी तलवार की धार रूपी जीभ से उत्तर दिया।' मेवात पीर मुहम्मद को जो बैरामखाँ का विश्वासनीय नौकर था, जागीर के रूप में दे दिया गया। मेवात अथवा अलवर से लौटते समय मार्ग में 'हाजीखाँ ने अजमेर, नागौद तथा उन सब प्रदेशों पर अधिकार कर लिया।... पीर मुहम्मदखाँ को सम्राट ने अजमेर का भार सँभालने के लिये भेज दिया।'

सिकन्दर के विरुद्ध आक्रमण का कुछ समय तक अकबर ने स्वयं संचालन किया। उसके बाद जब उसकी माता मरियम मकानी तथा अन्य राजमहिलाएँ काबुल से लौट आईं, तो 'सम्राट सैन्य संचालन बैरामखाँ के हाथों में छोड़कर उनसे मिलने चला गया, और इस पुनर्मिलन से उसे बहुत सान्त्वना मिली।' १५५८ ई० में मार्च के अन्त में श्रीमान सम्राट दिल्ली पहुँचा। फिर उसने अपनी प्रजा तथा सेना के हितों की ओर ध्यान दिया, और अपने कार्यों में उसने न्याय तथा दया को महत्वपूर्ण स्थान दिया। खान-खाना राज्य के मंत्रियों तथा अमीरों के साथ सप्ताह में दो बार दीवान-खाना में उपस्थित होता और श्रीमान सम्राट की आज्ञा तथा निर्देशन के अनुसार राज-काज करता।... ...छः महीने बीतने पर सम्राट ने नाव में बैठकर आगरा के लिए प्रस्थान किया और १७ मुहर्रम ९६६ हिज्री को (३० अक्टूबर १५५८) वहाँ पहुँच गया। उस समय आगरा अपेक्षाकृत कम महत्व का नगर था।'

''अकबर के शासन-काल के तीसरे तथा चौथे वर्षों (१५५८-६०) में मध्य भारत में स्थित ग्वालियर के शक्तिशाली किले ने समर्पण कर दिया और पूर्व में जौनपुर का प्रान्त जीत लिया गया, इस प्रकार हिन्दुस्तान में उसकी सत्ता सुसंगठित हो गई। राजपूताना में स्थिति रणथम्भौर के दुर्ग को हस्तगत करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु विफल रहा, मालवा को विजय करने के लिये प्रारम्भि सैनिक कार्यवाहियाँ की गईं, किन्तु इस बीच में अकबर ने अपनी शासन-क्षमता प्रदर्शित करने के लिये शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया जिसके कारण कुचक्र तथा उपद्रव खड़े हो गये और अन्त में अभिभावक बैरामखाँ का पतन हुआ, इस स्थिति में मालवा के विरुद्ध कार्यवाही कुछ समय के लिये स्थगित करनी पड़ी।''

यहाँ पर शेरशाह सूर के वंश के मूलोच्छेदन का संक्षिप्त उल्लेख करना उपयुक्त

होगा। सिकन्दर सूर के अन्त का हम पहले ही जिक्र कर आये हैं। अब महमूद-शाह अदली जिसने चुनार में अपनी शक्ति की स्थापना करके हेमू को मुगलों से लड़ने को भेजा था, सूरवंश का एकमात्र प्रतिनिधि शेष रह गया था। उसके भाग्य का 'तारीखे दाऊदी' में इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

'अदली हेमू की मृत्यु के समय चुनार में था, उसी समय बंगाल का शासक खिज्रखाँ जो महमूद खाँ का पुत्र था और जिसने सुल्तान बहादुर की उपाधि करली थी, अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए एक विशाल सेना लेकर आगे बढ़ा, और अदली उसका सामना करने के लिए बिहार में मुंगेर तक जा पहुँचा।' सूर्य उदय भी न हो पाया था कि सुल्तान बहादुर ने अपनी सेना खड़ी की, अदली पर धावा बोल दिया और युद्ध के नगाड़े बजा दिए। अदली के साथ बहुत थोड़े आदमी थे, किन्तु उसने पर्याप्त पराक्रम का परिचय दिया। सूरजगढ़ के पास जो मुंगेर से कमबढ़ एक कोस और पटना से लगभग बारह कोस था, युद्ध लड़ा गया, और ९६८ हिज्री (१५६०) में अदली अपनी सेना की कम संख्या के कारण हारा और मारा गया, वह केवल आठ वर्ष शासन कर पाया था।'

बैरामखाँ का पतन—१५६० के प्रारम्भ में अकबर ने सरकार का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लेने का निर्णय किया। उसके ऐसा करने के कारण अनेक थे। निजामुद्दीन लिखता है, 'साम्राज्य के कामों का सामान्य प्रबन्ध बैरामखाँ के अधीन था, किन्तु कुछ ऐसे ईर्ष्यालु तथा वैरभाव रखने वाले व्यक्ति थे जो सम्राट के कृपापात्र बनने का प्रयत्न कर रहे थे, वे लोग अवसर मिलने पर सम्राट का मस्तिष्क खराब करने के उद्देश्य से चुगली खाने से न चूके।' इसके विपरीत अकबरनामा में लिखा है, 'बैराम का स्वाभाविक चरित्र अच्छा तथा मिलनसार था। किन्तु कुसङ्गत से, जो मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होती है, उसके स्वाभाविक गुण आच्छादित हो गए और चाटुकारिता के कारण उसमें अहङ्कार की वृद्धि हो गई।' अबुल फजल ने भी उस पर षड्यन्त्र का आरोप लगाया है : 'अन्त में बैरामखाँ का आचरण असह्य हो गया और उसने कुछ दुर्बुद्धि चाटुकारों से मिलकर षड्यन्त्रपूर्ण योजनाएँ बनाईं।' फरिश्ता स्पष्ट कहता है, 'संक्षेप में, बैरामखाँ पर इतने आरोप लगाये गये, विशेषकर कामरान के पुत्र अब्दुल-कासिम मिर्जा को सिंहासन पर बिठलाने का षड्यन्त्र, कि अकबर घबड़ा उठा और उसने संरक्षक की सत्ता को नियन्त्रित करना आवश्यक समझा।' एक बार जो गलत धारणाएँ उत्पन्न हो गईं वे अविश्वास के कारण बढ़ती गईं और खाई गहरी करने के लिए छोटी से छोटी घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया।

वी० ए० स्मिथ लिखते हैं, "फारसी इतिहास ग्रन्थों में बैराम खाँ के पतन की परि-स्थितियों के सम्बन्ध में खूब विस्तार से तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखा गया है, किन्तु आधुनिक पाठकों की उत्सुकता को सन्तुष्ट करने के लिए संक्षेप में सारांश देना

पर्याप्त होगा। जब अकबर अठारह वर्ष का हुआ (१५६०), तो वह अपने को (परिपक्व) पुरुष अनुभव करने लगा और अभिभावक के संरक्षण के बन्धन उसे खलने लगे, इसलिये, उसने नाम तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टि से राजा बनने का निश्चय किया। उसकी इन स्वाभाविक भावनाओं को घर की महिलाओं तथा उन दरबारियों ने और प्रोत्साहन दिया तथा उभाड़ा जिन्हें संरक्षक के विरुद्ध किसी न किसी कारण से शिकायत थी। उसने शेख गदई को सद्रे सुदूर के पद पर नियुक्त किया जिससे दरबार के सुन्नियों का साम्प्रदायिक वैरभाव भड़क उठा और उन्होंने शिकायत की कि वैरामखाँ अपने शिया अनुयायियों के साथ अतिशय पक्षपात करता है, उनका यह कथन पूर्णतया असत्य भी नहीं था। अनेक प्रभावशाली व्यक्ति तार्दीबेग के वध से असन्तुष्ट हो गये थे, और अनेक अवसरों पर बैरामखाँ ने अपनी स्थिति का अनधिकार उपयोग करते हुए, अत्यधिक अहंकार पूर्ण व्यवहार किया था। उस पर अविवेकपूर्ण शब्द कहने का भी आरोप लगाया गया। इसके अतिरिक्त अकबर को एक विशेष निजी शिकायत भी थी: उसे अपने व्यय के लिए निश्चित धन न मिलता था और उसके परिवार का वेतन बहुत कम था, जब कि संरक्षक के नौकर धनी हो रहे थे। उधर बैराम खाँ समझता था कि मेरी सेवाएँ अपरिहार्य हैं और इसलिये वह उस निरंकुश शक्ति को त्यागने के लिए उद्यत नहीं था जिसका वह इतने दिनों से उपभोग करता आया था। धीरे धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि अकबर अथवा बैरमखाँ किसी एक को झुकना पड़ेगा।" शीघ्र ही स्थित संकटापन्न हो गई। "बैरामखाँ के सलाहकार एकमत न थे। सद्रे-सुदूर शेख गदई तथा अन्य सलाहकारों ने राय दी अकबर को गिरफ्तार करके मामला निपटा लिया जाय। किन्तु कुछ सोच-विचार के बाद बैरामखाँ ने विश्वासघात करके अपने जीवन भर के स्वामिभक्ति पूर्ण आचारण को कलंकित करने से इन्कार कर दिया और मेरा समर्पण करने का विचार है, यह भी प्रकट कर दिया। इसी बीच में बहुत-से दरबारीगण पतनशील मन्त्री का साथ छोड़ गए और अपने वर्ग के आचरण के अनुरूप उदीयमान सूर्य की पूजा करने लगे।"

इसके विपरीत अकबर ने तत्परता से काम किया। उसने बैरामखाँ को निम्न सन्देश अपने निजी अध्यापक मीर अब्दुल लतीफ के द्वारा भेजा :—"मुझे आपकी ईमानदारी तथा स्वामिभक्ति में विश्वास था, इसलिये मैंने राज्य के सभी विषय आपके हाथों में छोड़ रक्खे थे, और स्वय केवल अपने आमोद-प्रमोद की ही चिन्ता की। अब मैंने राज्य की बागडोर अपने हाथों में ले लेने का सकल्प कर लिया है, और यह वांछनीय है कि आप हज के लिये मक्का चले जायँ, जिसके सम्बन्ध में आप इतने दिनों से विचार कर रहे हैं। आपके निर्वाह के लिये हिन्दुस्तान के परगनों में से एक समुचित जागीर दे दी जायगी और उसकी आय आपके प्रतिनिधियों द्वारा आपके पास भेज दी जाया करेगी।" इसके बाद की घटनाओं का निजामुद्दीन इस प्रकार वर्णन करता है।

'जब अब्दुल लतीफ ने खानखाना को यह सन्देश सुनाया तो उसने ध्यानपूर्वक सुना

होगा। सिकन्दर सूर के अन्त का हम पहले ही जिक्र कर आये हैं। अब महमूद-शाह अदली जिसने चुनार में अपनी शक्ति की स्थापना करके हेमू को मुगलों से लड़ने को भेजा था, सूरवंश का एकमात्र प्रतिनिधि शेष रह गया था। उसके भाग्य का 'तारीखे दाऊदी' में इस प्रकार वर्णन किया गया है —

'अदली हेमू की मृत्यु के समय चुनार में था, उसी समय बंगाल का शासक खिज्रखाँ जो महमूद खाँ का पुत्र था और जिसने सुल्तान बहादुर की उपाधि करली थी, अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए एक विशाल सेना लेकर आगे बढ़ा, और अदली उसका सामना करने के लिए बिहार में मुंगेर तक जा पहुँचा।... सूर्य उदय भी न हो पाया था कि सुल्तान बहादुर ने अपनी सेना खड़ी थी, अदली पर धावा बोल दिया और युद्ध के नगाड़े बजा दिए। अदली के साथ बहुत थोड़े आदमी थे, किन्तु उसने पर्याप्त पराक्रम का परिचय दिया। सूरजगढ़ के पास जो मुंगेर से कमबढ़ एक कोस और पटना से लगभग बारह कोस था, युद्ध लड़ा गया, और ९६८ हिज्री (१५६०) में अदली अपनी सेना की कम संख्या के कारण हारा और मारा गया, वह केवल आठ वर्ष शासन कर पाया था।'

बैरामखाँ का पतन—१५६० के प्रारम्भ में अकबर ने सरकार का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लेने का निर्णय किया। उसके ऐसा करने के कारण अनेक थे। निजामुद्दीन लिखता है, 'साम्राज्य के कामों का सामान्य प्रबन्ध बैरामखाँ के अधीन था, किन्तु कुछ ऐसे ईर्ष्यालु तथा वैरभाव रखने वाले व्यक्ति थे जो सम्राट के कृपापात्र बनने का प्रयत्न कर रहे थे, वे लोग अवसर मिलने पर सम्राट का मस्तिष्क खराब करने के उद्देश्य से चुगली खाने से न चूके।' इसके विपरीत अकबरनामा में लिखा है, 'बैराम का स्वाभाविक चरित्र अच्छा तथा मिलनसार था। किन्तु कुसङ्गति से, जो मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होती है, उसके स्वाभाविक गुण अच्छादित हो गए और चाटुकारिता के कारण उसमें अहङ्कार की वृद्धि हो गई।' अबुल फजल ने भी उस पर षड्यन्त्र का आरोप लगाया है - 'अन्त में बैरामखाँ का आचरण असह्य हो गया और उसने कुछ दुर्बुद्धि चाटु-कारों से मिलकर षडयन्त्रपूर्ण योजनाएँ बनाई।' फरिश्ता स्पष्ट कहता है, 'संक्षेप में, बैरामखाँ पर इतने आरोप लगाये गये, विशेषकर कामरान के पुत्र अब्दुल-कासिम मिर्जा को सिंहासन पर बिठलाने का षड्यन्त्र, कि अकबर घबड़ा उठा और उसने संरक्षक की सत्ता को नियन्त्रित करना आवश्यक समझा।' एक बार जो गलत धारणाएँ उत्पन्न हो गईं वे अविश्वास के कारण बढ़ती गई और खाई गहरी करने के लिए छोटी से छोटी घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया।

वी० ए० स्मिथ लिखते हैं, "फारसी इतिहास ग्रन्थों में बैराम खाँ के पतन की परि-स्थितियों के सम्बन्ध में खूब विस्तार से तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखा गया है, किन्तु आधुनिक पाठकों की उत्सुकता को सन्तुष्ट करने के लिए संक्षेप में सारांश देना

पर्याप्त होगा। जब अकबर अठारह वर्ष का हुआ (१५६०), तो वह अपने को (परिपक्व) पुरुष अनुभव करने लगा और अभिभावक के संरक्षण के बन्धन उसे खलने लगे, इसलिये, उसने नाम तथा व्यवहार दोनों ही दृष्टि से राजा बनने का निश्चय किया। उसकी इन स्वाभाविक भावनाओं को घर की महिलाओं तथा उन दरबारियों ने और प्रोत्साहन दिया तथा उभाड़ा जिन्हें संरक्षक के विरुद्ध किसी न किसी कारण से शिकायत थी। उसने शेख गदई को सद्र-सुदूर के पद पर नियुक्त किया जिससे दरबार के सुन्नियों का साम्प्रदायिक वैरभाव भड़क उठा और उन्होंने शिकायत की कि बैरामखाँ अपने शिया अनुयायियों के साथ अतिशय पक्षपात करता है, उनका यह कथन पूर्णतया असत्य भी नहीं था। अनेक प्रभावशाली व्यक्ति तार्दीबेग के वध से असन्तुष्ट हो गये थे, और अनेक अवसरों पर बैरामखाँ ने अपनी स्थिति का अनधिकार उपयोग करते हुए, अत्यधिक अहंकार पूर्ण व्यवहार किया था। उस पर अविवेकपूर्ण शब्द कहने का भी आरोप लगाया गया। इसके अतिरिक्त अकबर को एक विशेष निजी शिकायत भी थी. उसे अपने व्यय के लिए निश्चित धन न मिलता था और उसके परिवार का वेतन बहुत कम था, जब कि संरक्षक के नौकर धनी हो रहे थे। उधर बैराम खाँ समझता था कि मेरी सेवाएँ अपरिहार्य हैं और इसलिये वह उस निरंकुश शक्ति को त्यागने के लिए उद्यत नहीं था जिसका वह इतने दिनों से उपभोग करता आया था। धीरे धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि अकबर अथवा बैरमखाँ किसी एक को झुकना पड़ेगा।" शीघ्र ही स्थिति संकटापन्न हो गई। "बैरामखाँ के सलाहकार एकमत न थे। सद्र-सुदूर शेख गदई तथा अन्य सलाहकारों ने राय दी अकबर को गिरफ्तार करके मामला निपटा लिया जाय। किन्तु कुछ सोच-विचार के बाद बैरामखाँ ने विश्वासघात करके अपने जीवन भर के स्वामिभक्ति पूर्ण आचरण को कलङ्कित करने से इन्कार कर दिया और मेरा समर्पण करने का विचार है, यह भी प्रकट कर दिया। इसी बीच में बहुत-से दरबारी-गण पतनशील मन्त्री का साथ छोड़ गए और अपने वर्ग के आचरण के अनुरूप उदीयमान सूर्य की पूजा करने लगे।"

इसके विपरीत अकबर ने तत्परता से काम किया। उसने बैरामखाँ को निम्न सन्देश अपने निजी अध्यापक मीर अब्दुल लतीफ के द्वारा भेजा —"मुझे आपकी ईमानदारी तथा स्वामिभक्ति में विश्वास था, इसलिये मैंने राज्य के सभी विषय आपके हाथों में छोड़ रक्खे थे, और स्वयं केवल अपने आमोद-प्रमोद की ही चिन्ता की। अब मैंने राज्य की बागडोर अपने हाथों में ले लेने का सङ्कल्प कर लिया है, और यह वाञ्छनीय है कि आप हज के लिये मक्का चले जायँ, जिसके सम्बन्ध में आप इतने दिनों से विचार कर रहे हैं। आपके निर्वाह के लिये हिन्दुस्तान के परगनों में से एक समुचित जागीर दे दी जायगी और उसकी आय आपके प्रतिनिधियों द्वारा आपके पास भेज दी जाया करेगी।" इसके बाद की घटनाओं का निज़ामुद्दीन इस प्रकार वर्णन करता है।

'जब अब्दुल लतीफ ने खानखाना को यह सन्देश सुनाया तो उसने ध्यानपूर्वक सुना

बन्दूकों तथा तमचों की अग्नि से उस स्थान पर जो प्रकाश पड़ रहा था उसमें जयमल का चेहरा दिखाई दे गया। सम्राट ने उस पर निशाना लगाया और ऐसा घायल कर दिया कि वह वहीं मर गया। अपने नेता के पतन से दुर्ग-रक्षकों का साहस टूट गया और प्रत्येक व्यक्ति अपने घर की ओर दौड़ने लगा। उन्होंने अपनी स्त्रियों, बच्चों तथा धन-सम्पत्ति को एक स्थान पर इकट्ठा किया और जला दिया। हिन्द के काफिरों की भाषा में यह क्रिया जौहर कहलाती है। अब शाही दल एकत्र हो गए और उन्होंने अनेक दरारों में होकर आक्रमण किया। अनेक काफिर उनकी रक्षा के लिए आगे झपटे और अत्यधिक पराक्रम से युद्ध किया। सम्राट सावत में बैठा हुआ अपने लोगों के परिश्रम को देखकर प्रसन्न हो रहा था। आदिल मुहम्मद कन्धारी.... तथा अन्य लोगों ने महान् पराक्रम तथा साहस का परिचय दिया और उनकी बहुत प्रशंसा हुई। उस रात भर युद्ध चलता रहा किन्तु प्रात काल— जो गौरवपूर्ण था—होते ही किले पर अधिकार होगया। सम्राट् हाथी पर सवार हुआ और अपने स्वामिभक्त सेवकों को पैदल लेकर किले में प्रवेश किया। सामान्य नर संहार की आज्ञा दी गई और लगभग ८,००० राजपूतों को, जो उस स्थान में थे, अपने कार्यों का फल भोगना पड़ा। दोपहर के उपरान्त संहार बन्द कर दिया गया और सम्राट अपनी शिविर को लौट आया और वहाँ तीन दिन उसने विश्राम किया। आसफखाँ को उस देश पर शासन करने के लिये नियुक्त किया गया और श्रीमान् सम्राट् ने २५ शबन, मगल के दिन राजधानी के लिये प्रस्थान किया।

'जब सम्राट ने चित्तौड़ की विजय के लिये कूच किया था उस समय उसने व्रत लिया था कि सफल होने पर मैं अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के मकबरे की यात्रा करूंगा। इस व्रत को पूरा करने के लिये उसने अजमेर को प्रस्थान किया और पूरा मार्ग पैदल चलकर तय किया। ७ रमजान, रविवार को वह अजमेर पहुँचा। उसने तीर्थ यात्रा की सभी रीतियों को पूरा किया और दान-दक्षिणा देकर दरिद्रों को प्रसन्न किया। वह वहाँ दस दिन तक ठहरा और फिर राजधानी को चला आया। (मार्च १५६८ ई० में वह आगरा पहुँचा।)

रणथम्भौर —'कुछ महीने आगरा में ठहरने के उपरान्त सम्राट ने रणथम्भौर के किले पर आक्रमण करने का संकल्प किया, वह हिन्दुस्तान में सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऊँचा किला समझा जाता था। उन दलों को एकत्र करने की आज्ञा दी गई जिन्होंने चित्तौड़ के घेरे में भाग नहीं लिया था।......

'जब अमीर कई मंजिलें तय कर गये तो सम्राट को मिर्जाओं के उपद्रवों की सूचना मिली, जो गुजरात से भाग निकले थे और मालवा में स्थित उज्जैन के किले को घेर लिया था। तब सम्राट ने कलिजखाँ को उन अमीरों तथा सेना को साथ लेकर जिन्हें रणथम्भौर भेज दिया गया था, मिर्जाओं के विद्रोह को दमन करने की आज्ञा दी। इस आज्ञा के अनुसार दोनों दल सयुक्त हो गये। ' जब मिर्जाओं को उनके पहुँचने का समाचार मिला तो उज्जैन का घेरा उठा कर वे माण्डू की ओर चले गये। ' सभी लोग मिर्जाओं का पीछा करने के लिये दौड़े, वे माण्डू से भाग कर नर्वदा के तट को चले गये

थे। उन्होंने ऐसी घबड़ाहट में नदी पार की उनके बहुत से आदमी डूब गये। उसके बाद मिर्जा लोग गुजरात चले गये। शेष कार्यवाही का यथास्थान वर्णन किया जायगा।

'वर्ष प्रारम्भ होते ही (२२ फरवरी १५६६ ई०) सम्राट ने रणथम्भौर की ओर कूच किया और कुछ ही समय में किले की दीवालों के नीचे पहुँच गया। किले को घेर लिया गया। सावतें बनवाईं गईं और तोपों से कई स्थानों में दरारें कर दी गईं। किले के शासक राय सुर्जन ने जब घेरे की प्रगति देखी तो उसकी धृष्टता तथा घमण्ड लच गया और उसने अपने दुध तथा भोज नामक दो पुत्रों को संधि के लिये भेजा। श्रीमान सम्राट ने दोनों युवकों का, जो उसकी दया की भीख माँगने आये थे, दयालुतापूर्वक सत्कार किया और उनके अपराधों को क्षमा कर दिया। उसने हुसैन कुली खाँ को, जिसे खान जहान की उपाधि मिल गई, राय सुर्जन को आश्वासन देने के लिये किले में भेजा। वह गया और राय को लाकर सम्राट की सेवा में उपस्थित किया, राय ने स्पष्ट रूप से अधीनता स्वीकार कर ली और शाही सेवकों में उसे भर्ती कर लिया गया।

कालिंजर—'अफगानों के अराजकतापूर्ण शासन-काल में राजा रामचन्द्र ने कालिंजर का दुर्ग बिजिलीखाँ से भारी मूल्य देकर खरीद लिया था।—. . चित्तौड़ तथा रणथम्भौर के किलों की विजय का यश सारे संसार में फैल गया था और साम्राज्यीय सेना के वे लोग जिनकी जागीरें कालिंजर के निकट थीं, किले को हस्तगत करने की निरन्तर योजनाएँ बना रहे थे और युद्ध छेड़ने के लिये उतावले हो रहे थे। राजा रामचन्द्र अनुभवी तथा बुद्धिमान व्यक्ति था और अपने को शाही सिंहासन का समर्थक मानता था। उसने अपने आदमियों के द्वारा किले की कुंजियाँ तथा उपयुक्त उपहार सम्राट की सेवा में भेज दिये और साथ ही साथ उसे जो विजयें प्राप्त हुई थी, उनके लिये बधाई भी दी। उसी दिन उस प्रदेश के एक जागीरदार मजनूनखाँ को किले का भार सौंप दिया गया और राजा रामचन्द्र के पास एक मैत्री-सूचक फरमान भेजा गया। सम्राट के शासन-काल के चौदहवें वर्ष में, ९७७ हिजरी के सफर महीने में, किला उसके अधिकार में आया।

जोधपुर तथा बीकानेर—'जिस समय सम्राट नागौर में ठहरा हुआ था, राइ मालदेव का पुत्र चन्द्रसेन सम्राट का अभिवादन करने तथा भेंट चढ़ाने आया। बीकानेर का राजा कल्याणमल भी अपने पुत्र राइसिंह के साथ सम्राट की सेवा में उपस्थित हुआ और कर भेंट किया। पिता तथा पुत्र दोनों की राजभक्ति प्रकट हो जाने पर सम्राट ने कल्याणमल की पुत्री से विवाह कर लिया। चालीस दिन तक उसने अपने न्याय तथा दया के प्रकाश से नागौर की दरिद्र जनता को प्रफुल्लित किया। वहाँ से वह शेख फरीदुद्दीन मसूद गंजे शकर की समाधि के दर्शन करने के लिये अजोधन गया। राइ कल्याणमल इतना मोटा था कि घोड़े पर भी नहीं चढ़ सकता था, इसलिये उसे बीकानेर लौट जाने की आज्ञा मिल गई

शाली था। उसे सभी प्रकार के काम करने पड़ते थे, जैसे बन्दियों का निरीक्षण करना, इलाही सम्वत का प्रचार करना और जनता द्वारा विभिन्न उत्सवों का मनाना, सड़कों को सुरक्षित रखना और बाजारों का नियन्त्रण करना, बाँटों तथा नापों का निरीक्षण करना, दुर्व्यसनों को और यहाँ तक कि व्यक्तियों की निजी अपव्ययता को रोकना, 'क्योंकि जब कोई व्यक्ति अपनी आय से अधिक व्यय करता करता है तो यह निश्चित है कि वह कोई अनुचित काम कर रहा है।' इसके अतिरिक्त उसका कर्तव्य था अपने अधिकार क्षेत्र में मकानों तथा निवासियों की गणना करना, आने-जाने वाले यात्रियों तथा विदेशियों पर निगाह रखना और भेदियों तथा सम्वाददाताओं का एक दल रखना, जिससे प्रति घंटे और प्रति दिन की घटनाओं से सम्पर्क रह सके। इसलिये अबुल फजल का यह लिखना आश्चर्य की बात नहीं है, 'इस पद के लिये उपयुक्त व्यक्ति वही हो सकता है जो शक्तिशाली, अनुभवी, क्रियाशील, विचारवान, धैर्ययुक्त, कुशल तथा उदार हो। 'आइने-अकबरी' में उसके कर्तव्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

"उसे चाहिये कि जागरूक रहे तथा रात में पहरा दे जिससे जनता सुरक्षाजनित विश्राम का उपभोग कर सके और दुष्ट प्रकृति के लोग सक्रिय न हो सकें। उसे चाहिये कि मकानों तथा अरक्षित मार्गों की सूची रक्खे, जनता को पारस्परिक सहायता के लिये प्रतिज्ञाबद्ध करे और सार्वजनिक सुख-दु:ख में भाग लेने के लिये उसे एक सूत्र में बाँधे। उसे चाहिये कि निवासियों की कुछ निश्चित संख्या के आधार पर नगर को अलग-अलग क्षेत्रों में बांट दे और अपने अधीन अधिकारियों में जो चतुर हो उन्हें नामनिर्देशित कर दे जिससे वे प्रत्येक क्षेत्र का निरीक्षण करते रहें, उसमें आने-जाने वाले लोगों की तथा जो कुछ घटनाएँ घटें उनकी सूचना देते रहें। उसको चाहिये कि अप्रकाशित लोगों में से एक को भेदिया नियुक्त करे जिससे दूसरों का परिचय न हो, और उनकी लिखित रिपोर्टें रक्खे तथा सावधानी से जाँच करवाये। उसे विभिन्न वर्गों के लोगों की आय-व्यय पर निगाह रखनी चाहिये और शिष्ट सम्भाषण तथा जागरूकता द्वारा अपने प्रशासन के प्रति जनता के हृदय में सम्मान उत्पन्न करना चाहिये। उसका कर्तव्य है कि प्रत्येक शिल्पि संघ में से एक व्यक्ति को संघ का अध्यक्ष और एक को दलाल नियुक्त करे जिससे उनकी जानकारी से क्रय-विक्रय का काम होता रहे। इन लोगों से उसे समय-समय पर रिपोर्टें माँगते रहने चाहिये। जब कुछ रात बीत जाय तो उसे चाहिये कि लोगों को न तो नगर के बाहर जाने दे और न भीतर प्रवेश करने दे। उसे चाहिये कि बेकार व्यक्तियों को किसी प्रकार की दस्तकारी में लगा दे। उसे चोरों का तथा चुराई हुई सम्पत्ति का पता लगाना चाहिये और नहीं तो क्षति के लिये स्वयं उत्तरदायी होना चाहिये। उसे ऐसा आदेश जारी करना चाहिये कि कोई व्यक्ति हथियारों, हाथियों, घोड़ों, पशुओं, ऊँटों, भेड़ों, बकरियों तथा व्यापारिक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु पर कर अथवा अबवाब न माँगे। प्रत्येक प्रान्त में एक नियत स्थान पर थोड़ा-सा आयात-कर लगाया जाय। पुराने सिक्के गला डाले जाँय अथवा कोष में जमा कर दिये जाय। उसे चाहिये कि राज्यों में सोने तथा चांदी के सिक्कों के मूल्य में किसी प्रकार का परिवर्तन न होने

दे और प्रचलन से जो घिसावट हो जाय उसे पूरा करदे। उसे चाहिये कि मूल्यों को घटाने में अपने विवेक का प्रयोग करे और नगर के बाहर खरीद न होने दे। धनी व्यक्तियों के उपभोग के लिये जितना आवश्यक है उससे अधिक उन्हें न खरीदने दिया जाय। उसे चाहिये कि बाटों की परीक्षा करे और सेर को ३० दाम से अधिक अथवा कम न होने दे। उसे चाहिये कि गज में कमी अथवा बढ़ती न होने दे और लोगों को मदिरा बनाने, बांटने, खरीदने और बेचने न दे, किन्तु वह जनता के घरेलू जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। उसे चाहिये कि उन मरे हुए तथा लापता लोगों की जिनके कोई उत्तराधिकारी नहीं है, सम्पत्ति की सूची बना ले और अपने निरीक्षण में उसे रक्खे। उसको चाहिये कि पुरुषों तथा स्त्रियों के लिये अलग-अलग घाटों और कुओं की व्यवस्था करे। उसे चाहिये कि सार्वजनिक जलमार्गों के प्रबन्ध के लिये सम्माननीय व्यक्तियों को नियुक्त करे, और स्त्रियों को घुड़सवारी करने से रोके। उसे आदेश जारी करना चाहिये कि बैलों, भैंसों, घोड़ों अथवा ऊँटों का वध न किया जाय और किसी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध न लगाया जाय और न गुलामों को बेचा जाय। उसे चाहिये कि किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध न जलाया जाने दे, मृत्यु दंड के अधिकारी अपराधी को शूली पर न चढ़ाया जाने दे और न १२ वर्ष से कम अवस्था के बालकों का खतना होने दे। इत्यादि।

५—सम्वाददाता—सम्वाददाता चार प्रकार के थे. (१) वाकई-नवीस, (२) सवनिक निगार; (३) खुफिया नवीस; तथा (४) हरकारा। पहले प्रकार के सम्वाददाता नियमित थे और प्रान्तों तथा सभी नगरों में सेना के साथ नियत रहते थे, दूसरे प्रकार के विशेष अवसरों पर अथवा नियमित रूप से नियुक्त किये जाते थे जिससे वाकई-नवीस ठीक समाचार भेजते रहें। समाचार-पत्र दरोगा डाकचौकी के पास भेज दिये जाते थे और वह उन्हें सम्राट के समक्ष उपस्थित किये जाने के लिये बिना खोले वजीर के सुपुर्द कर देता था। 'ये चार प्रकार के सार्वजनिक समाचारदाता दरोगा डाकचौकी के अधीन कार्य करते थे और वही उनका तात्कालिक-उच्च अधिकारी तथा संरक्षक था। कभी-कभी कोई अहंकारी सूबेदार अपने विरुद्ध की गई रिपोर्ट के लिये स्थानीय समाचार लेखक को खुले रूप से पटता अथवा अपमानित करता, तब दरोगा डाकचौकी ही अपने अधीन कर्मचारी का पक्ष लेता और अपराधी सूबेदार को दण्ड दिलवाता।' व्यवस्था यह थी कि वाकई सप्ताह में एक बार, सवनिह दो बार तथा हरकारों के अखबार एक बार (१ एक महीने में) और नाजिम तथा दीवान के पोतियों में बन्द समाचार हर महीने में दो बार भेजे जाते थे, इनके अतिरिक्त तात्कालिक महत्व के मामलों की रिपोर्ट तुरन्त ही करनी पड़ती थी।

६—राजस्व वसूल करने वाले—राजस्व वसूल करने वाला वास्तविक पदाधिकारी करोड़ी था। यह व्यवस्था अकबर ने स्थापित की थी। करोड़ी उस जिले के पदाधिकारी को कहते थे जिससे एक करोड़ दाम (२॥ लाख रुपया) की

अदृश्य जगत के अन्य जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करने से इनकार किया और पैगम्बर तथा फकीरों के चमत्कारों में अविश्वास प्रकट किया ; उसने हमारे धर्म के साक्षियों के उत्तरोत्तर साक्ष्य का खण्डन किया था और कुरान की सत्यता के प्रमाणों को वहीं तक स्वीकार किया जहाँ तक कि उनका मनुष्य की बुद्धि से मेल खाता था।' अकबर ने साहसपूर्वक घोषणा की थी, "मनुष्य के बाहरी विश्वासों का तथा इस्लाम के केवल अक्षरों का हार्दिक श्रद्धा क बिना कोई महत्व नहीं है। ...धर्म के शब्दों का जप करना, खतना करवाना अथवा राज-शक्ति के भय से जमीन पर सिजदा करना आदि का ईश्वर की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है।"*

बदायूनी की दृष्टि में इस प्रकार के आचरण का अर्थ था धर्म से च्युत होना, और यह एक अक्षम्य अपराध था। इस घृणा से वह तथा कट्टर मुल्ला नये धर्म से सम्बन्धित प्रत्येक बात की निन्दा करने लगे। उससे सम्बन्धित लोगों के लिये उनके पास शाप तथा गाली-गलौज के अतिरिक्त और कुछ न था। अशक्त किन्तु कट्टर मुसलमानों ने क्रोध दिखलाया और बड़बड़ाये, १५८१ ई० में उन्होंने विद्रोह का झण्डा भी खड़ा किया, किन्तु धीरे धीरे निरर्थक असन्तोष में उनका अन्त हो गया। 'मुन्तखबुत' के पृष्ठों में हमें उनकी भावनाओं की झलक मिलती है।

'बिचारे शेख जिन्हें हिन्दू अर्थ-सचिवों की दया पर छोड़ दिया गया था, अपने निर्वासन में अपनी आध्यात्मिकता को भी भूल बैठे और निवास के लिये उनके पास चूहों के बिलों को छोड़कर और कोई स्थान न रह गया था।...—

'इस वर्ष (९८८ हि०) कुछ नीच तथा कमीने लोगों ने, जो विद्वान बनते थे किन्तु जो वास्तव में मूर्ख थे, यह सिद्ध करने के लिये प्रमाण इकट्ठे कर लिये कि सम्राट साहिबे जमा है और वह इस्लाम के बहत्तर सम्प्रदायों में विद्यमान मत-वैषम्य को दूर कर देगा। शिया भी इसी प्रकार की मूर्खतापूर्ण बातें करते थे। —इन सब चीजों ने सम्राट को पैगम्बर की प्रतिष्ठा का दावा करने के लिये और भी अधिक प्रोत्साहित किया, शायद पैगम्बर से भी बढ़कर प्रतिष्ठा का।

'इसी समय सम्राट के प्रति भक्ति के चार अंश निर्धारित किये गये। चार अंश थे, सम्राट के लिये सम्पत्ति, जीवन, सम्मान तथा धर्म को त्यागने के लिये तत्पर रहना। जो इन चार चीजों को त्याग देता उसमें भक्ति के चार अंश विद्यमान रहते, और जो इन चार में से एक चीज त्यागता उसमें एक अंश। अब सभी दरबारियों ने अपना नाम सिंहासन के वफादार शिष्यों में लिखवा लिया।'

वास्तव में यहाँ पर बदायूनी ने हँसी उड़ाना आरम्भ कर दिया है। निस्सन्देह वह स्वयं उन "सब दरबारियों" में से एक न था जिन्होंने सम्राट के लिये अपनी 'सम्पत्ति' जीवन, सम्मान तथा धर्म' अर्पण कर दिया था, और फिर भी वह अपने जीवन के शेष पन्द्रह वर्ष (९८९-१००४ हि०) अकबर के दरबार में बना रहा।

* ईलियट तथा डाउसन भाग ५, पृष्ठ ६०-६१।

उसने स्वयं केवल सोलह व्यक्तियों का उल्लेख किया है जिन्होंने दीन-इलाही को अङ्गीकार कर लिया था। अबुल फजल ने उनके अतिरिक्त दो नाम और दिये हैं। ब्लोचमन का कहना है, "बीरबल को छोड़कर वे सब मुसलमान हैं, किन्तु बदायूनी के ही कथन से स्पष्ट है कि जिन्होंने इसे ग्रहण किया उनकी संख्या इससे अधिक रही होगी।" बदायूनी ने स्वयं लिखा है कि राजा भगवानदास तथा मानसिंह ने नये धर्म को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था, फिर भी उन पर अत्याचार नहीं किया गया और वे अपने उच्च पद तथा विशेषाधिकारों का उपभोग करते रहे।

बदायूनी को इससे और भी अधिक बुरा लगा होगा कि अकबर ने योग्य हिन्दुओं के प्रति अनुग्रह दिखाया (अथवा केवल न्याय किया?)। वह लिखता है कि 'जो लोग शिष्य हो गये उनका वास्तविक उद्देश्य पद प्राप्त करना था, और यद्यपि सम्राट ने उनके मस्तिष्क से यह विचार निकालने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु हिन्दुओं के प्रति उसने भिन्न व्यवहार किया, क्योंकि वे उसे पर्याप्त संख्या में न मिल सकते थे (?) और उनके बिना काम भी नहीं चल सकता, आधी सेना तथा आधी भूमि उनके अधिकार में है। जितने बड़े बड़े अमीर हिन्दुओं में हैं, उतने न तो हिन्दुस्तानियों में हैं और न मुगलों में। किन्तु यदि हिन्दुओं को छोड़कर अन्य लोग आते और शिष्य बनने के लिये कुछ भी त्याग करने को उद्यत होते, तो सम्राट उन्हें बुरा-भला कहता अथवा दण्ड देता (?) वह उनके उत्साह तथा सम्मान की चिन्ता नहीं करता था और न यही देखता था कि उनके विचार उससे मिलते थे अथवा नहीं।'

बदायूनी ने जो कुछ लिखा है उससे ही उसके कथन का खण्डन होता है, उसके मतानुसार केवल अकबर ही नहीं बल्कि वह प्रत्येक व्यक्ति जो सुन्नी सम्प्रदाय की कट्टरता से तनिक भी विचलित होता, धर्म भ्रष्ट था। इसलिये अकबर तथा अबुलफजल के सम्बन्ध में उसका गर्जन ध्यान देने योग्य है। वह धर्मान्ध था; इसलिये अकबर के 'सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य को सामने रखकर किये गये सुधारों' को देख कर वह बौखला उठा। हमें यहाँ केवल उन सुधारों की प्रकृति पर विचार करना है। अच्छा होगा कि उनके सम्बन्ध में हम स्वयं बदायूनी के वृत्तान्त का ही अनुसरण करें—

'अब (९९० हि०) सम्राट को विश्वास हो गया कि इस्लाम के न्यायपूर्ण शासन का सतयुग आरम्भ होने को है। इसलिये जो योजनायें उसने गुप्त रूप में तैयार करली थीं उन्हें जारी करने में कोई बाधा नहीं रह गई थी। शेख तथा उलेमा जिन्हें उनकी हठ-धर्मी तथा अहंकार के कारण हटाना पड़ा था, जा चुके थे, और सम्राट इस्लाम के सिद्धान्तों तथा आदेशों को असत्य सिद्ध करने, राष्ट्र के धर्म का विनाश करने और मूर्खतापूर्ण नये व्यवस्थाओं को जारी करने के लिये स्वतन्त्र था।'

नये नियम—(१) पहला नियम था कि सिक्कों पर इलाही सम्वत अंकित किया

हो चुकी थी और एक चौथाई शताब्दी तक निरन्तर युद्ध करते-करते राठौर लोग थक गये थे। इसलिये १७०४ ५ में अजीतसिंह और दुर्गादास को सम्राट के सामने सिर झुकाना पड़ा। किन्तु औरङ्गजेब की मृत्यु से पहले उन्हें फिर एक अवसर मिला। जैसे ही सम्राट की मृत्यु का समाचार उनके कानों में पहुँचा, उन्होंने विद्रोह कर दिया। ७ मार्च १७०७ को अजीतसिंह ने फिर अपने पूर्वजों की राजधानी की ओर कूच किया। जोधपुर के नायब फौजदार जफाकुली को मार भगाया गया और आखिरकार जसवन्तसिंह का पुत्र अपने पिता के सिंहासन पर बैठा। दुर्गादास के सभी प्रयत्न व्यर्थ नहीं सिद्ध हुये।

दक्षिण भारत

जब औरंगजेब ने अपने भगोड़े पुत्र अकबर का पीछा करने के लिये दक्षिण को प्रस्थान किया, तो वास्तव में वह अपने सर्वनाश की ओर बढ़ा। दक्खिन उसके लिये कब्रस्थान सिद्ध हुआ, और जब १७०७ में उसे वहाँ दफनाया गया तो एक सम्राट की लाश ही नहीं बल्कि अन्य अनेक चीजें भी कब्र के नीचे दब गईं। किन्तु इससे पहले कि हम औरंगजेब के जीवन नाटक के अन्तिम दृश्य का वर्णन करें हमारे लिये आवश्यक है कि दक्षिण भारत के इतिहास की गुत्थी को हम वहीं से फिर सुलझायें जहाँ हम उसे छोड़ आए थे (१६५७ में गृह-युद्ध प्रारम्भ होने के समय तक)।

आदिलशाही वंश का पतन—४ अक्टूबर १६५७ को औरंगजेब उन घटनाओं के कारण जिनका हम पहले वर्णन कर आये हैं, कल्याणी से वापिस लौटा। उस समय बीजापुर की विजय को स्थगित करने के कारण अत्यन्त गम्भीर थे। आदिलशाह और मुगलों के बीच संधि दारा और शाहजहाँ के बीच में पड़ने से हुई थी, इसलिये वह दीर्घकाल तक न टिक सकती थी। बीजापुर के शासक ने एक करोड़ रुपया युद्ध-क्षतिपूर्ति के रूप में देने और बीदर, कल्याणी तथा परिन्दा के किले मुगलों के सुपुर्द करने का वचन दिया था, किन्तु जैसे ही औरंगजेब ने दक्खिन से पीठ फेरी, वैसे ही यह स्पष्ट हो गया कि आदिलशाह बिना लड़े झुकने वाला नहीं है। मीर जुमला ने सन्धि की शर्तों को पूरा कराने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल न हो सका और १ जनवरी १६५८ को औरंगाबाद लौट गया। इसके बाद औरंगजेब उत्तरी भारत की समस्याओं में उलझ गया। इस बीच का बीजापुर का इतिहास मराठों के इतिहास से गुथा हुआ है और हमारे प्रसंग से बाहर है। इसलिये उपयुक्त होगा कि हम दक्षिण की मुस्लिम रियासतों, बीजापुर और गोलकुण्डा की दुखान्त कहानी का वर्णन करदें, क्योंकि उनसे निपटने के उपरान्त हम फिर निश्चिन्त होकर औरंगजेब के मराठों से अन्तिम तथा घातक संघर्ष की कहानी सुना सकेंगे। जयसिंह ने जिसको औरंगजेब ने शिवाजी (उसके विषय में हम आगे लिखेंगे) के विरुद्ध भेजा था, जून १६६५ में पुरन्धर की सन्धि करली, जिसके

घुड़सवारों का भार सौंपा गया। सब मिला कर दक्खिन में २०००० घुड़सवार तथा ७ बन्दूकची विश्वसनीय पदाधिकारियों की अधीनता में छोड़ दिये गये और इन प्रान्तों की प्रतिरक्षा तथा प्रशासन का समुचित प्रबन्ध किया गया।

किन्तु यह एक विराम सन्धि मात्र थी, स्थायी रूप से दक्खिन का दमन न किया जा सका। जब तक चतुर तथा निर्भीक मलिक अम्बर जीवित था तब तक स्थायी शान्ति की आशा नहीं की जा सकती थी। जैसे ही शाही सेना का कुछ भाग हटा लिया गया अथवा राजनीतिक स्थिति अनुकूल हो गई उसने पुनः अपनी शक्ति की स्थापना करली। १६२० ई० तक उसने लगभग वे सब प्रदेश जीत लिये जो पिछली सन्धि के कारण हाथ से निकल गये थे। ऐसी स्थिति में शाहजहाँ को एक बार फिर भेजना आवश्यक हो गया। इस बार भी पहले ही जैसा परिणाम हुआ। (१६२१)। जहाँगीर लिखता है, 'विद्रोहियों के बहुत अनुनय-विनय करने पर यह तै हुआ कि पहले शाही पदाधिकारियों के अधीन जो प्रदेश था उसके अतिरिक्त चौदह कोस आगे की पट्टी और दे दी जाय और ५० लाख रुपये की रकम शाही खजाने में जमा कर दी जाय।' आगे चल कर १६२२ में बीजापुर तथा अहमदनगर दोनों ने एक दूसरे के विरुद्ध शाही सहायता की प्रार्थना की। महाबतखाँ ने बीजापुर का साथ देना पसन्द किया जिसके कारण अहमदनगर से युद्ध अनिवार्य हो गया। अन्त में १६२६ में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गई और दक्खिन की समस्या पूर्ववत बिना सुलझी रह गई। मलिक अम्बर के शत्रु भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे थे। मुगल दरबारी लेखक मुतामदखाँ ने निम्न शब्दों में उसकी प्रशंसा की है —

'अब समाचार मिला कि ३१ उर्दिबिहिश्त को ८० वर्ष की अवस्था में मलिक अम्बर हबशी की मृत्यु हो गई है। यह अम्बर गुलाम था, किन्तु योग्य व्यक्ति था। युद्ध, सैन्य सचालन, ठोस निर्णय-बुद्धि तथा प्रशासन में वह बेजोड़ था। वह छापामार युद्ध प्रणाली (कज्जाकी) को जिसे दक्खिन की भाषा में बर्गीगीरी कहते हैं, भलीभाँति समझता था। उसने जीवनपर्यन्त उस देश के उद्दण्ड लोगों पर नियन्त्रण रक्खा, अपनी उच्च प्रतिष्ठा कायम रक्खी तथा सम्मान के साथ ससार से विदा हुआ। इतिहास में अन्य किसी ऐसे हबशी गुलाम का उदाहरण नहीं है जो इतनी उच्चता पर पहुँच सका हो।'

काँगड़ा—इस दुर्ग को राजा विक्रमाजीत ने खुर्रम के नेतृत्व में युद्ध करके हस्तगत किया। जहाँगीर लिखता है, 'सोमवार, ५ मुहर्रम को काँगड़ा की विजय का आनन्ददायक समाचार मिला। जिस समय यह तुच्छ व्यक्ति सिंहासन पर बैठा तो सबसे पहले उसने इस किले को जीतने का संकल्प किया। उसने पंजाब के सूबेदार मुर्तजाखाँ को एक विशाल दल के साथ उस पर आक्रमण करने भेजा, किन्तु उसको जीतने से पहले ही मुर्तजा की मृत्यु हो गई। इसके बाद राजा बसु के पुत्र सूरजमल को उसके विरुद्ध भेजा गया; किन्तु उस गद्दार ने विद्रोह कर दिया, और उसकी सेना छिन्न-भिन्न हो गई तथा किले की विजय का कार्य स्थगित होगया। किन्तु शीघ्र ही गद्दार को बन्दी बना लिया गया और उसे

खाफी खाँ लिखता है, 'पिछले दो वर्षों में देश में विशाल सेनाओं की हलचल विशेषकर पूर्वी तथा उत्तरी भागों में, और कुछ अन्य प्रदेशों में वर्षा कम हुई, इन सब से अन्न मँहगा होगया। जनता को आराम पहुँचाने तथा उनके कष्टों को दूर के लिये सम्राट ने फर्मान जारी किया और रहदारी नामक कर माफ कर दिया कर प्रत्येक राजमार्ग (गुजर) पर, सीमाओं और घाटों पर वसूल किया जाता था राज्य को इससे भारी आय होती थी। उसने पानदारी—मकान अथवा भूमि कर— कर जो समस्त शाही प्रदेशों में कसाइयों, कुम्हारों और पहचुनियों से लेकर ब जौहरियों और साहूकारों तक प्रत्येक व्यापारी और दुकानदार को देना पड़ता माफ कर दिया। नियम के अनुसार बाजारों में प्रत्येक दुकान तथा स्टाल की छो छोटी भूमि के लिये इस नाम से कुछ न कुछ देना पड़ता था, और इससे सर ... लाखों (रुपये) से भी अधिक की आय होती थी। अन्य वैध और अवैध कर, जैसे शुमरी', 'बुज-शुमरी', 'घर-गदी', बजारों की 'चराई' (चराई कर), 'तुआव मुसलमान फकीरों के उत्सवों पर लगने वाले मेलों से वसूल होने वाले कर, तथा का की यात्राओं अथवा मेलों से जो सारे देश में हिन्दू मन्दिरों के निकट लगते हैं, वर्ष में एक बार लाखों लोग एकत्र होते और जहाँ हर प्रकार का क्रय-विक्रय हो वसूल होने वाले कर। शरानों, पुनगृहों, वेश्यालयों पर लगने वाले कर, जुर्माने, और दण्डाधीशों की सहायता से कर्जदारों से वसूल हुए ऋण का चतुर्थांश। ये अन्य कर जिनकी संख्या लगभग अस्सी थी और जिनसे सरकारी कोष को करोड़ों की आय होती थी, हिन्दुस्तान भर में हटा दिये गये। इनके अतिरिक्त अन्न-कर (पच्चीस लाख रुपये की वैध आय होती थी, हटा दिया गया जिससे अन्न का भारी कुछ कम हो जाय।'

यद्यपि इन करों को न वसूल करने के लिये कठोर आज्ञाएँ जारी की गई, भी स्वार्थी स्थानीय अधिकारी अथवा जागीरदार उन्हें वसूल करते रहे।

किन्तु, जैसा कि खाफीखाँ ने लिखा है, 'जब इन आज्ञाओं के उल्लंघन की (सरकार के पास पहुँचती तो दण्डस्वरूप अपराधियों का मनसब घटा दिया जाता गदाधारी उनके जिलों में भेज दिये जाते। ये गदाधारी कुछ दिनों के लिये कर वसूलयाबी रोक देते और फिर वापिस लौट जाते। कुछ समय बाद अपराधी लोग ' संरक्षकों द्वारा अथवा अपने वकीलों की निकड़म से अपने मनसब की संख्या पुन. की त्यों करवा लेते। इसलिये बहुत से करों के हटाये जाने के लिये जो नियम बनाये उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ।'

इस विषय में लेनपूल का मत ध्यान देने योग्य है . "अविश्वासी आलोचकं कथन है कि औरंगजेब की यह प्रभावहीन उदारता एक कुटिल चाल थी जिससे अपने कोष को क्षति पहुँचाये बिना ही जनता का भला बनना चाहता था। करेरी का मत प्रतीत होता है कि सम्राट अपने अमीरों का समर्थन प्राप्त कर लिये उनके कुकर्मों की ओर जान बूझ कर ध्यान नहीं देता था। अर्द्ध सा

प्रशासन में यह अनिवार्य हो जाता है कि शक्तिशाली अमीरों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाय और यहाँ तक कि कभी-कभी उनके अनियमित कार्यों से निगाह बचाई जाय, इसलिये हो सकता है कि औरंगजेब को भी अपने अमीरों के कुकृत्यों की ओर से आँखें बन्द करनी पड़ती हों, इस डर से कि कहीं इनसे भी बुरे काम न होने लगें। किन्तु करों की छूट के सम्बन्ध में हमें यह मानना पड़ेगा कि यह एक उदारतापूर्ण कार्य था और कुरान की इस आज्ञा के अनुकूल था कि जरूरतमन्दों और सन्मार्ग पर चलने वालों के साथ, दयालुता का व्यवहार किया जाय, सम्राट के स्वभाव के विषय में हमें जो कुछ विदित है, उसको ध्यान में रखते हुए भी यही व्याख्या अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। वह ऐसा व्यक्ति नहीं था कि अनुचित लूट-खसोट और गरीबों के उत्पीड़न की ओर ध्यान न देता।" लेनपूल की इस व्याख्या से हम सहमत हैं। औरंगजेब ने अपने पुत्र शाहआलम को जो बुद्धिमत्तापूर्ण सीख दी उसको हम ऐसे विषयों में उसके विचारों का सच्चा प्रतीक मान सकते हैं 'सम्राट का आचरण न तो अधिक कोमल ही होना चाहिये और न अत्यधिक कठोर, मध्यम मार्ग ही सबसे अच्छा है। यदि इन दो गुणों में से एक दूसरे से बहुत अधिक बढ़ जाता है तो वह उसकी सत्ता के नाश का कारण बन जाता है, क्योंकि अत्यधिक कोमलता से प्रजा उद्दण्डता दिखाने लगती है और कठोरता का आधिक्य होने से लोगों के दिल फिर जाते हैं।'

न्याय—केवल भारतीय लेखकों ने ही नहीं, बल्कि विदेशियों ने भी औरंगजेब के न्याय-प्रशासन की सराहना की है। ओविंगटन ने "औरंगजेब के सम्बन्ध में अपना मत तथा जानकारी बम्बई और सूरत के अंग्रेज व्यापारियों से प्राप्त की थी जो किसी भी प्रकार से सम्राट के पक्षपाती आलोचक नहीं थे।" वह भी लिखता है कि महान मुगल 'न्याय का प्रमुख महासागर है।.... सामान्यतया उसके निर्णय न्यायपूर्ण तथा सबके लिये एकसे होते हैं; क्योंकि न्याय के सम्बन्ध में सम्राट अमीरों अथवा विशेषाधिकारों का उपभोग करने वाले व्यक्तियों के साथ भी कोई रियायत नहीं करता, बल्कि तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति भी औरंगजेब के पास उसी प्रकार फर्याद लेकर पहुँच सकता है जैसे कि मुख्य उमराह, यही कारण है कि उमराह लोग अपने कामों में सावधान रहते हैं और ठीक समय पर चुकता करते रहते हैं।' 'मिराते आलम' का रचयिता बख्तावरखाँ औरंगजेब के न्याय के सम्बन्ध में लिखता है:

'इस पवित्र न्यायालय में अनुचित वार्तालाप करने, चुगली खाने अथवा झूठ बोलने की आज्ञा नहीं है। उसके दरबारियों को जिन पर उसके प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, चेतावनी दे दी गई है कि यदि उन्हें कोई ऐसी बात कहनी हो जिससे किसी अनुपस्थित व्यक्ति के चरित्र पर आक्षेप हो, तो वे शिष्टतापूर्ण शब्दों में और सविस्तार अपने विचार प्रकट करने चाहिये। फर्यादियों के साथ न्याय करने के लिये वह दिन में दो-तीन बार प्रसन्नमुख तथा दया दृष्टि के साथ दरबार-ए-आम में प्रकट होता है, फर्यादी लोग बड़ी तादाद में बिना किसी रुकावट के उसके सम्मुख आते रहते हैं, और वह बड़े ध्यान के साथ

उनकी बात सुनता है, वे निर्भय होकर तथा बिना हिचकिचाहट के साथ अपनी बात कहते हैं, और निष्पक्ष भाव से उनकी शिकायतें दूर की जाती हैं। यदि कोई व्यक्ति अधिक बात करता अथवा अनुचित तरीके से व्यवहार करता है तो भी वह (सम्राट) कभी अप्रसन्न नहीं होता और न अपनी भौंहें तानता है। उसके दरबारियों ने अनेक बार इच्छा प्रकट की कि लोगों को इतनी निर्भीकता का प्रदर्शन न करने दिया जाय, किन्तु उसका कहना है कि उनके शब्दों को सुनने और उनके हाव-भाव देखने से मुझमें सहनशीलता और सहिष्णुता की आदत पड़ती है। सभी दुश्चरित्र लोगों को दिल्ली के नगर से निकाल दिया जाता है, और साम्राज्य के अन्य सभी नगरों में भी ऐसा करने का आदेश दे दिया गया है। यद्यपि साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया है, फिर भी सर्वत्र लोगों में व्यवस्था तथा नियमितता कायम रखने के लिये सावधानी से कर्तव्यों का पालन किया जाता है और कोई ऐसा अपराध नहीं किया जा सकता जिसके लिये इस्लामी विधि द्वारा निर्धारित दण्ड न मिल सके। क्रोध अथवा आवेश में आकर वह कभी मृत्यु दण्ड की आज्ञा जारी नहीं करता।'

औरंगजेब की क्रियाशीलता—अधिक तथा निरन्तर कार्य करने से ही महान सफलताएँ प्राप्त होती हैं। औरंगजेब को अपने पूर्वजों से यह गुण विरासत में मिला था। अकबर और शाहजहाँ ने राज-काज के सम्बन्ध में अपने साथ कभी रूरियायत नहीं की; हुमायूँ और जहाँगीर आराम पसन्द थे और इसीलिये उन्हें अपेक्षाकृत विफलता का सामना करना पड़ा। शेरशाह ने निरन्तर तथा जागरूकता के साथ काम करके ही अपनी धाक जमाई। औरंगजेब ने यदि कभी कोई सबक सीखा तो उसी से, और उसके इतिहास से वह भली-भाँति परिचित था। अपने पुत्र मुअज्जम से उसने एक बार कहा, "सम्राट को आराम पसन्द नहीं होना चाहिये और न अवकाश की ही इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि राज्यों के पतन और राजसत्ता के नाश का सबसे घातक कारण यही है। जितना सम्भव हो सके, निरन्तर गतिशील रहो।

"सम्राटों तथा पानी दोनों के लिये एक स्थान पर टिका रहना बुरा है, पानी सड़ जाता है, और राजा की शक्ति उसके हाथ से निकल जाती है।"

उसका भी सिद्धान्त वही था जो उसके समसामयिक फ्रांस के महान लुई चौदहवें का . "जो शासन करना चाहता है, उसे कठिन परिश्रम करना चाहिये; कठिन परिश्रम के बिना शासन करने की इच्छा ईश्वर के प्रति कृतघ्नता और प्रजा के प्रति अन्याय है।" औरंगजेब ने स्वय लिखा था, 'जब तक इस नश्वर जीवन की साँस भी शेप है तब तक कठोर परिश्रम से मुक्ति नहीं मिल सकती।' उसका आचरण उसके इन आदर्शों के अनुकूल था, इसकी पुष्टि उसकी दिनचर्या से होती है।

यदि 'आलमगीरनामा' का विश्वास किया जाय तो मालूम होगा कि औरंगजेब चौबीस में से केवल तीन घंटे सोता था। आधी शताब्दी के शाही शासन में, युद्ध तथा शान्ति में, बीमारी तथा स्वस्थ अवस्था में, गर्मी और वर्षा में उसने
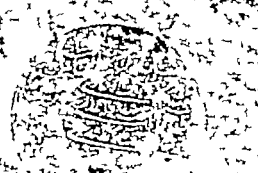
औरंगज़ेब और फ़र्मान पर मुहर।

सदैव अपने कर्तव्य का पालन किया। बर्नियर ने एक आश्चर्यजनक उदाहरण दिया है:—

'औरंगजेब की बीमारी बड़ी गम्भीर थी, फिर भी वह सरकारी काम काज की ओर ध्यान देता रहा और अपने पिता को सुरक्षा से हिरासत में रखने की समस्या पर विचार करता रहा। सुलतान मुअज्जम को उसने गम्भीर सलाह दी कि यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो राजा को कारागार से मुक्त कर देना, किन्तु इतबारखाँ को वह निरन्तर पत्र लिखवाता रहा और उसे स्वामिभक्त बने रहने तथा कठोरता से अपना कर्तव्य पालन करने के लिये प्रेरित करता रहा, अपनी बीमारी के पाँचवे दिन, अव्यवस्था के संकट के दौरान में वह अपने को दीवाने-खास में लिववा गया जिससे उन लोगों का जिन्होंने उसे मरा हुआ समझ लिया हो, भ्रम दूर हो जाय, और कोई ऐसा सार्वजनिक उपद्रव अथवा दुर्घटना न उठ खड़ी हो जिससे शाहजहाँ को भाग निकलने का अवसर मिल जाय। इन्हीं कारणों से वह ७वें, ९वें और १०वें दिन फिर उस सभा में उपस्थित हुआ; और सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि १३ वें दिन उसे ऐसी गम्भीर मूर्छा आगई कि उसके मर जाने की आम अफवाह फैलने लगी, फिर भी जैसे ही मूर्छा जागी उसने राजा जयसिंह तथा दो तीन और उमराह को बुला भेजा ताकि वे उसके जीवित होने का प्रमाण दे सकें। इसके बाद उसने चाकरों से कहा कि मुझे पलंग पर बिठला दो, फिर कलम और स्याही मंगवाई और इतबार खाँ को पत्र लिखा और शाही मुहर को लेने के लिये एक हरकारा भेजा—मुहर एक छोटी सी थैली में बन्द रोशनारा बेगम के यहाँ रक्खी हुई थी और थैली पर उस अँगूठी ठप्पा लगा था जिसे वह सदैव अपनी बाह में बाँधे रहता था, वास्तव में वह यह देखना चाहता कि राजकुमारों ने किन्हीं कुत्सित योजनाओं को पूरा करने के लिये कहीं उस मुहर का प्रयोग तो नहीं कर लिया है।' बड़ी प्रशंसा करते हुए बर्नियर आगे लिखता है कि 'जिस समय मेरे आगा को ये सब बातें मालूम हुई उस समय मैं वहीं उपस्थित था मैंने उसे कहते सुना, 'कैसी मस्तिष्क की शक्ति है ! कैसा दुर्दमनीय साहस है ! औरंगजेब ! ईश्वर तुझे इनसे भी महान् कार्यों के लिये जीवित रक्खे। अभी तेरे भाग्य में मरना नहीं है।'

एलफिंस्टन ने लिखा है, "जब हम औरंगजेब के कठिन परिश्रम के इन कार्यों की समीक्षा करते हैं तो हमारे लिये उसके उस अव्यवसायपूर्ण साहस की सराहना न करना असम्भव हो जाता है जिससे उसने अपने अन्तिम दिनों में आने वाली कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना किया। जब उसने इस लम्बे युद्ध को आरम्भ करने के उद्देश्य से नर्बदा को पार किया, उस समय उसकी अवस्था पैंसठ वर्ष की थी, और जब उसने विरमपुरी में स्थित अपने शिविर को छोड़ा उस समय वह इक्कियासी वर्ष का हो चुका था। इस अवस्था में कोई भी व्यक्ति लम्बी लम्बी मंजिलों और घेरों की थकान को नहीं सहन कर सकता; यद्यपि ऊपर से उसकी शिविर में विलासिता का प्रदर्शन रहता था, किन्तु वास्तव में उसे ऐसे कष्ट झेलने पड़े जिनसे कम आयु के व्यक्ति का भी स्वास्थ्य जर्जरित हो जाता। दुर्गम नदियों,

रूप में शासन करेगा। इसके अतिरिक्त उसने अपनी माता येसूबाई, अपनी पत्नी, अपनी रखैल विरूबाई और अपने सौतेले भाई बदनसिंह को बन्धक के रूप में अपने पीछे छोड़ जाना भी स्वीकार कर लिया। उधर आज़मशाह ने शाहू को दक्खिन के छः सूबों से (खानदेश, बरार, औरङ्गाबाद, बीदर, हैदराबाद अथवा गोलकुंडा तथा बीजापुर) चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्रदान किया। शाहू को सद्व्यवहार पर्यन्त गोंडवाना, गुजरात और तंजोर का सूबेदार भी नियुक्त किया गया।" जब बहादुरशाह सिंहासन पर बैठा तो शाहू ने अपना वकील रायभानजी भोंसला शाही दरबार में सम्मान प्रकट करने के लिये भेजा, और नयें सम्राट ने उसे अपने पद पर स्थायी कर दिया और दस हजार सवार का मसबदार नियुक्त किया। किन्तु ताराबाई ने शाहू की वैधता और दावों का शाही दरबार के समक्ष प्रतिवाद किया और मुनीमखाँ के द्वारा 'अपने पुत्र के नाम में फर्मान की माँग की, तथा सरदेशमुखी के नौ रुपये (प्रतिशत) माँगे और उसके बदले में अन्य विद्रोहियों का दमन करने तथा देश में व्यवस्था कायम रखने का वचन दिया, किन्तु चौथ का कोई उल्लेख नहीं किया गया। शम्सुद्दौला जुल्फिकारखाँ ने राजा शाहू का पक्ष लिया, और इस प्रश्न को लेकर दोनों मन्त्रियों में भारी वादविवाद उठ खड़ा हुआ। सम्राट का स्वभाव बहुत ही अच्छा था, इसलिये उसने संकल्प कर लिया था कि मैं किसी की भी प्रार्थना को अस्वीकार नहीं करूँगा, चाहे वह नीचा हो और चाहे उच्चकोटि का। वादियों और प्रतिवादियों ने सम्राट के समक्ष अपना-अपना दृष्टिकोण रक्खा, और यद्यपि उनमें प्रातःकाल और सन्ध्या का अन्तर था फिर भी दोनों स्वीकार कर लिये गये और स्वीकृति का फर्मान भी जारी कर दिया गया। सरदेशमुखी के मामले में मुनीमखाँ और जुल्फिकारखाँ दोनों की ही प्रार्थना के अनुसार फर्मान दे दिये गये, किन्तु उन दोनों मन्त्रियों के झगड़े के फलस्वरूप इस आज्ञा को कार्यान्वित न किया जा सका।'

सिक्खों से सम्बन्ध—पिछले अध्याय में हम दसवें गुरु गोविन्दसिंह तक सिक्खों के इतिहास का वर्णन कर आये हैं, गोविन्दसिंह ने सामरिक अथवा अन्य किसी कारण से बहादुरशाह की जिस समय वह अपने विद्रोही भाइयों से संघर्ष कर रहा था, अधीनता स्वीकार कर ली। गुरु का वध जिन्हीं भी परिस्थितियों में हुआ हो, इतना निश्चित है कि उन्होंने 'गौरय्या को बाज पर प्रहार करना' भली भाँति सिखा दिया था, "उन्होंने विजित लोगों की सुप्त शक्तियों को प्रभावोत्पादक रूप में जागृत कर दिया था और उनमें सामाजिक स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष की उच्च भावना भर दी थी, ये आदर्श गुरु नानक द्वारा प्रतिपादित धर्म की शुद्धता के आवश्यक अङ्ग थे।" मुगलों के विरुद्ध संघर्ष में उनके सभी बेटे मारे गये थे, और १७०८ में अपनी मृत्यु के समय उन्होंने खालसा को अमर ईश्वर की शरण में छोड़ दिया। अपने अनुयायियों को उन्होंने उपदेश दिया "जो कोई गुरु के दर्शन करना चाहता है उसे नानक के ग्रन्थ का अनुशीलन करना चाहिये। गुरु का निवास खालसा में होगा, दृढसङ्कल्प

तथा कर्तव्यपरायण बनो· जहाँ कहीं भी पाँच सिक्ख एकत्र होंगे, वहाँ मैं भी उपस्थित रहूँगा।"

इसके उपरान्त सिक्खों का नेतृत्व एक साहसिक ने किया जिसको उत्पत्ति और व्यक्तित्व का विषय विवादग्रस्त है। इर्विन लिखते हैं, "गोविन्द की मृत्यु के बाद उनके परिवार तथा साथियों ने एक ऐसा व्यक्ति लाकर उपस्थित किया जिसकी आकृति स्वर्गीय गुरु से पूर्णतया मिलती थी। यह व्यक्ति कौन था? यह स्पष्ट नहीं है, सामान्यतया उसे बन्दा (गुलाम) अथवा 'झूठा गुरु' कह कर पुकारा जाता है।··· कुछ लोगों का कहना है कि वह वैरागी फकीर था ······ जो कई वर्ष से गुरु गोविन्द का घनिष्ठ मित्र था।" इस व्यक्ति की उत्पत्ति तथा वंश के विषय में कुछ भी सत्य रहा हो, उसे गुप्त रूप से दक्खिन से हिन्दुस्तान को भेज दिया गया। उसी समय पंजाब को पत्र लिख कर सिक्खों को सूचना दी गई कि गुरु को सम्राट के खेमे में एक अफगान ने कटार भोंक कर मार डाला है। किन्तु मृत्यु से पहले गुरु ने घोषणा की थी कि मेरा पुनर्जन्म होगा और मैं प्रभुत्व धारण करके शीघ्र ही प्रगट होऊँगा, और जहाँ कहीं मैं स्वतन्त्रता का झंडा उठाऊँ वे मेरे साथ आ मिलें और इस जन्म में समृद्धि तथा दूसरे में मुक्ति प्राप्त करें।"

बन्दा ने साम्राज्य की उपद्रवग्रस्त स्थिति से लाभ उठाया और शीघ्र ही पंजाब में और विशेषकर सरहिन्द में मुसलमानों के लिये आतङ्क का कारण बन गया। इस विद्रोह से साम्राज्य के मर्मस्थल के लिये ही संकट उपस्थित हो गया; इसी को कुचलने के लिये ही बहादुरशाह ने राजपूतों के विरुद्ध लड़ाई बन्द कर दी और शीघ्रता से उत्तर की ओर चल पड़ा। शाही अधिकारियों ने इस रोबिनहुड को पकड़ने के लिये अनेक यत्न किये, किन्तु उन्हें सफलता न मिली। बहादुरशाह के जीवन-काल में बन्दा को न पकड़ा जा सका। अशक्त सम्राट ने खानखाना पर अपना क्रोध उतारा। सिक्ख नेता की खोज में पागल होकर सम्राट ने आज्ञा जारी की कि सेना में, दरबार तथा सरकारी कार्यालयों में जितने खत्री और जाट हैं, वे सब अपनी-अपनी दाढ़ियाँ मुड़ा डालें। 'उनमें से अनेक को बाध्य होकर यह अपमान सहना पड़ा, और कुछ दिनों तक नाइयों को बहुत व्यस्त रहना पड़ा। कुछ सम्माननीय तथा उच्च स्थिति के लोगों ने अपनी दाढ़ियों के सम्मान की रक्षा के लिये आत्महत्या कर ली।'

बहादुरशाह की मृत्यु के बाद अराजकता के युग में सिक्खों की शक्ति बढ़ती गई। बन्दा फर्रुखसियर के राज्यारोहण के उपरान्त १७१६ में जाकर कहीं पकड़ा जा सका।

परिणाम—बहादुरशाह अन्तिम सम्राट था जिसके समय में महान मुगलों का वैभव देखने को मिलता था। उसके बाद साम्राज्य का रात्रिकाल आरम्भ

खाँ के शत्रुओं का साथ देने में ही अपना हित समझा। मीर बख्शी की हत्या में उसका भी हाथ था, इस सेवा के बदले में ही उसे ५००० ज़ात तथा ३००० सवार का मसब और सादत खाँ बहादुर की उपाधि प्रदान की गई थी। इसके बाद दो वर्ष (१७२० २०) तक वह आगरा का सूबेदार रहा और उसका पद फिर बढ़ाकर ६००० जात तथा ५००० सवार कर दिया गया।

इस समय भरतपुर के उद्दण्ड जाटों ने आगरा तथा मथुरा के जिलों में रहने वाले अपने भाइयों से मिल कर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। आगरा के नये सूबेदार ने उन पर चढ़ाई की और उनके गढ़ों में से चार पर अधिकार करने में सफल हुआ। किन्तु वह इस सफलता से लाभ न उठा सका, क्योंकि उसे दरबार में वापिस बुला लिया गया और मारवाड़ के राजा अजीतसिंह के विरुद्ध कूच करने को कहा गया। राजा सैयद भाइयों का समर्थक था, इसलिये उनके नाश का बदला लेने के लिये उसने मुसलमान विरोधी नीति का अनुसरण किया और शाही सरकार के विरुद्ध खुले रूप से शत्रुता दिखलाई। दरबार के अन्य अमीरों ने उसको दण्ड देने के लिये चढ़ाई पर जाने से इन्कार किया, किन्तु सादतखाँ ने अपनी योग्यता की धाक जमाने के उद्देश्य से इस अवसर का स्वागत किया। लेकिन भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया, और ईर्ष्यालु दरबारियों के विरोध के कारण योजना विफल रही। उधर जाटों ने उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाया और स्थिति पहिले से भी अधिक बिगड़ गई। उसके नाइब नीलकण्ठ नागर ने उनको दमन करने का प्रयत्न किया, किन्तु युद्ध में स्वयं मारा गया। इन परिस्थितियों में सादतखाँ को स्वयं जाटों से भिड़ना पड़ा किन्तु उस पर ग्रहों का प्रकोप मालूम होता था। वह असफल रहा और आगरा की सूबेदारी १ सितम्बर १७२२ को राजा जयसिंह कुशवाहा को सौंप दी गई, क्योंकि राजा इसी शर्त पर जाटों पर आक्रमण करने के लिए तैयार हुआ। सम्राट ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने के लिये सादतखाँ से मिलना भी स्वीकार नहीं किया और उसे सीधे तथा तत्काल ही अवध को जाने की आज्ञा दी।

१ सितम्बर १७२२ को उसने अपने नये सूबे का भार सँभाला; और उसका पहला सूबेदार गिरधर बहादुर मालवा को स्थानान्तरित कर दिया गया। इसी तारीख से वास्तव में अवध का एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य के रूप में उदय हुआ, यद्यपि नाम के लिये वह बहुत दिनों तक मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करता रहा। १८१६ में लार्ड हेस्टिंग्ज के उकसाने से सादत खाँ के वंश के सातवें शासक ग़ाज़ी उद्दीन हैदर ने 'राजा' की उपाधि धारण की। सूबे के आन्तरिक इतिहास से हमें यहाँ प्रयोजन नहीं। सादत ने विद्रोही सामन्तों तथा जमींदारों को दबाने और अपनी शक्ति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। १७२४ में उसने अपनी पुत्री का विवाह अपने भतीजे सफदर जंग से कर दिया और उसे अवध में अपना नाइब नियुक्त किया। इस प्रकार जब इस सूबे में उसके पैर दृढ़ता से जम गये, तो उसने फिर दिल्ली की ऊँची राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया। १७३२ में वह उत्तर भारत में मराठों की प्रगति को रोकने का भार अपने ऊपर लेने को तैयार हो गया और प्रस्ताव रक्खा कि अवध के अतिरिक्त मुझे आगरा और मालवा की

सूबेदारी भी दे दी जाय जिससे मैं मराठों का सामना कर सकूँ। किन्तु पहले की भाँति ये योजनाएँ भी दरबार के ईर्ष्यालु अमीरों के विरोध के कारण निष्फल रहीं। फिर भी जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, मार्च १७३२ में उसने आगरा के निकट मराठों को परास्त किया। अपनी संदिग्ध विजय की जो अतिरंजित सूचना उसने दरबार में भेजी उसका परिणाम बुरा हुआ। एक ओर तो बाजीराव ने मराठों की पराजय की इस झूठी रिपोर्ट का स्पष्ट रूप से खंडन करने के लिये दिल्ली पर आक्रमण किया और अपनी सेना लेकर शाही राजधानी के फाटकों तक जा धमका, दूसरे सादत के प्रतिद्वन्द्वियों ने सम्राट की दृष्टि में उसे गिराने के लिये इन घटनाओं का प्रयोग किया। इस सब के परिणाम और भी अधिक घातक सिद्ध हुये। जनवरी १७३९ में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया और साम्राज्य को ऐसा धक्का दिया कि वह क्षत-विक्षत होकर धराशाही होगया। यह आश्चर्य की बात नहीं थी कि अन्त में सादत कृतघ्न सम्राट को नीचा दिखाने के लिये आक्रमणकारी से जा मिला, और क्षणिक उत्कर्ष के उपरान्त १९ मार्च १७३९ को आत्म हत्या कर ली। अवध में सफदरजंग उसका उत्तराधिकारी हुआ, उसके सम्बन्ध में अधिक हम आगे लिखेंगे।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा—साम्राज्य के इन पूर्वी प्रान्तों का इतिहास भी अवध तथा दक्खिन के इतिहास से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। ये प्रान्त नाम के लिये मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करते रहे, कर देते रहे और आवश्यकता पड़ने पर उनसे सहायता भी लेते रहे, किन्तु अन्य सब बातों में उन्होंने साम्राज्य की पूर्णतया उपेक्षा की। इसलिये वास्तव में वे ही साम्राज्य के विघटन की पहली मंजिल थे। अपना स्वार्थ ही उनके विचारों तथा कार्यों का मुख्य केन्द्र रहा। यहाँ पर बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की सूबेदारी का संक्षिप्त वृत्तान्त देना पर्याप्त होगा।

औरंगजेब की मृत्यु के समय (१७०७) मुर्शिदकुली खाँ बंगाल और उड़ीसा का नायब नाजिम तथा दीवान था। किन्तु सूबेदार राजकुमार अजीमुश्शान ने अपना अधिकांश समय शाही दरबार में ही बिताया, इसलिये मुर्शिदकुली प्रान्तों का वास्तविक शासक बन बैठा। १७१३ में सम्राट फर्रुखसियर ने उसे कानूनी दृष्टि से भी सूबेदार मान लिया; १७१९ में उड़ीसा भी उसके प्रान्त में सम्मिलित कर दिया गया। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं कि, "मुर्शिदकुली खाँ के सबल, और सुयोग्य तथा ईमानदारी पर आधारित प्रशासन ने और उसकी न्यायप्रियता और शान्ति तथा व्यवस्था सम्बन्धी कठोर कार्य-प्रणालियों ने जनता के धन तथा सुख में वृद्धि की और व्यापार को प्रोत्साहन दिया। १७२७ में उसका दामाद शुजाउद्दौला असद जंग उसका उत्तराधिकारी हुआ। १७३३ में बिहार भी इन दोनों सूबों में जोड़ दिया गया। १७३९ में जब उसने इन तीनों प्रान्तों का भार अपने उत्तराधिकारी सरफराज को सौंपा, तो उस समय वे समृद्ध और सम्पन्न थे। किन्तु नये

विदेशी पौदा जो कि अरब से लाकर भारत की भूमि में रोप दिया गया हो।" इसी प्रकार शर्की सुल्तानों के संरक्षण में जौनपुर में हिन्दू तथा मुसलमान शिल्पियों ने मिलकर मस्जिदों का निर्माण किया। बंगाल में हुसैनशाह (१४९२ से ७२) ने हिन्दू तथा मुसलमान जातियों में एकता स्थापित करने के प्रयत्न किये और स्थानीय साहित्य तथा कला को प्रश्रय दिया, इसके लिए आज भी उस प्रान्त के लोग उसका श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। कहा जाता है कि भागवत का प्रथम बँगला अनुवाद मालाधर वसु ने उसी की आज्ञा से किया, और उसी के आदेश से महाभारत का अनुवाद हुआ। उस सुल्तान को सत्यपीर नामक एक पथ का संस्थापक भी बतलाया जाता है, जो दीन इलाही का अग्रगन्ता सिद्ध हुआ हिन्दू चैतन्य के अनेक मुसलमान अनुयायी थे, और इसी प्रकार अनेक हिन्दू मुसल मान कबीर को अपना गुरु मानते थे। दक्षिण में बहमनी राज्य में वित्त विभाग ब्राह्म मंत्रियों के हाथ में था, और विजयनगर शासकों ने मुसलमानों को अपनी से में भर्ती किया और उनके धर्म को प्रश्रय दिया, यद्यपि वे निरन्तर अपने पड़ो मुस्लिम राज्यों से निरन्तर संघर्ष करते रहे। इसी प्रकार गोलकुण्डा के सुल्त इब्राहीम (१५६०-८१) ने तेलेगु साहित्य का का पोषण किया। गुजरात, माल और राजपूताना में हमें हिन्दू मुस्लिम स्थापत्य के सम्मिश्रण के अनेक उदाहर मिलते हैं। किन्तु अकबर के अग्रगन्ताओं में सबसे महत्वपूर्ण स्थान काश्मीर सुल्तान ज़ैनुल-अबीदीन (१४१७-६७) का है। उसने जिज़या हटा दिय हिन्दुओं के साथ सहिष्णुता का बर्ताव किया और इसके अतिरिक्त साहित्य, चि कला तथा संगीत को प्रोत्साहन दिया और बिना धार्मिक भेद-भाव के संस्कृ अरबी तथा अन्य भाषाओं से अनुवाद करवाये।

इसलिए हम देखते हैं कि मुगलों के समय में यही सर्वव्यापक आन्दोल पहले से अधिक उत्कृष्ट रूप में फलान्वित हुआ। स्मिथ ने मुगल चित्रकला इतिहास का सविस्तार परिशीलन करके लिखा है कि "इस अनुशीलन से ह सबसे लाभदायक चीज़ यह देखने को मिलती है कि मुगल चित्रकला के इतिहा में हिंदू नामों का प्राधान्य है। उदाहरण के लिए 'वाकियाते-बाबरी' में बाईस ना मिलते हैं, उनमें से उन्नीस हिंदू हैं और केवल तीन मुसलमान। इसी प्रकार अबु फज़ल की नामावली के सत्रह कलाकारों में केवल चार मुसलमान और तेरह हिन्दू।" स्थापत्य, अन्य कलाओं तथा साहित्य के सम्बन्ध में भी य बात लागू होती थी। इन क्षेत्रों में कार्य करने वाले हिन्दुओं की संख्या उतना महत्व नहीं है जितना कि इस बात का कि मुगल सम्राट उदारता उनकी कृतियों की सराहना करते थे और बड़े पैमाने पर उन्हें संरक्षण देते हिन्दू कलाकार केवल अपवाद न थे। मुगल काल में अगणित इमारतों, महल और मस्जिदों को बनाने के लिए हजारों कलाकार, कारीगर और उस्ताद भ किए गए, उनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों थे और उन्हों ने मिलकर काम किया और वे कृतियाँ खड़ी कर दीं जिन्हें देखने के लिए आज भी संसार भर के पर्यटक